निर्झरिणी





पंजाब यूनिवर्सिटी



सरनदास भनोत



आमुख

पंजाब यूनिवर्सिटी ने सितम्बर सन् १९४८ में पब्लिकेशन ब्यूरो (प्रकाशन-विभाग) नामक एक नई शाखा इस उद्देश्य से स्थापित की कि हिन्दी और पंजाबी भाषाओं के साहित्य को सम्पन्न तथा समृद्धिशाली बनाने में यूनिवर्सिटी भी समुचित योग दे सके। अतएव ज्ञान-विज्ञान तथा साहित्य-सम्बन्धी मौलिक ग्रन्थों की रचना, अन्यान्य भाषाओं की इस प्रकार की उत्तमोत्तम पुस्तकों के अनुवाद तथा छात्रगणों की शिक्षा के लिए इन विषयों की पाठ्य पुस्तकों का निर्माण अथवा उनका प्रामाणिक रूप में संकलन एवं संशोधन करके सम्पादन—इन सभी विधियों द्वारा उक्त उद्देश्य की पूर्ति करने का यत्न किया जा रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक 'निर्झरिणी' में आधुनिक हिन्दी कविता की कुछ सरस रचनाओं का संकलन तथा संपादन किया गया है। इनके चुनाव में इस बात का ध्यान रखा गया है कि माध्यमिक स्तर के हिन्दी पाठक सुगमता से इसको समझ सकें। उनकी ज्ञानवृद्धि के लिए कवियों का संक्षिप्त परिचय और किन्हीं कठिन शब्दों के अर्थ भी दिये गये हैं। साथ ही कुछ एक महत्वपूर्ण रचनाओं की सार-समालोचना भी प्रस्तुत की गई है। आशा है कि पाठकवर्ग इस से समुचित लाभ उठायेंगे।

इस पुस्तक में संकलित सभी कवियों अथवा उनके उत्तराधिकारियों एवं प्रकाशकों का मैं कृतज्ञतापूर्वक धन्यवाद करता हूँ। अपनी कविताओं को संगृहीत करने की अनुमति दे कर उन्होंने न केवल अपने सौजन्य का परिचय दिया है अपितु इस प्रान्त के विद्यार्थीमंडल को भी हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ कवियों की सुन्दर रचनाओं के पढ़ने का सौभाग्य प्रदान किया है।

इस पुस्तक को दोष तथा त्रुटिरहित बनाने का पूर्ण यत्न किया गया है तथापि नितांत निर्दोषता असंभव है। पाठक-पाठिकाओं से प्रार्थना है कि यदि उन्हें कोई त्रुटि दृष्टिगोचर हो तो वे कृपया मुझे सूचित करें जिससे अगले संस्करण में उसका उचित संशोधन किया जा सके।

रघुनन्दन शास्त्री

सैक्रेटरी

यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन ब्यूरो।

जालन्धर

१-५-५५

हिन्दी का नव जागरण-काल

भारतेन्दु युग आधुनिक हिन्दी काव्य के लिए सँक्रान्ति का युग है ! इस में हम हिन्दी काव्य को प्राचीनता का आवरण त्याग कर नवीन भावों के क्षेत्र में प्रवेश करते हुए स्पष्ट देखते हैं। भारतेन्दु से पहले हिन्दी काव्यधारा मुख्यतया शृंगारप्रधान थी। शृङ्गार में भी वासना की दुर्गन्ध अधिक थी और सत्य एवं निष्कपट प्रेम की भावना कम। कवियों का दृष्टिकोण नायिकाओं के नख-शिख-वर्णन से आगे बढ़ने को तैयार न था। वाह्य सौन्दर्य के चित्रण में ही वे अपने कर्तव्य की इति श्री समझते थे। मानसिक और आत्मिक सौन्दर्य के स्वस्थ चित्रण में उन की रुचि नहीं थी। प्रकृति को भी वे शृङ्गार के उद्दीपन विभाव के रूप में ही देख सकते थे। यह स्थिति काव्य में सडायँध पैदा करने के लिए काफ़ी थी। समय के साथ युग ने पलटा खाया। सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तनों के साथ साहित्यिक परिवर्तन के लिए भी भूमि तैयार हुई। भारतेन्दु ऐसे महान प्रतिभा-शाली कलाकार का अवतरण हुआ।

भारतेन्दु ने बड़े साहस से काव्यधारा को एक नई दिशा में प्रेरित किया। शृङ्गार के अतिरिक्त उन्होंने अपने उदाहरण से कवि-जनों के सम्मुख नये-नये विषय उपस्थित किए। देश की पराधीनता उन्हें बेकल किये हुए थी। समाज की दुर्बलताएं उन्हें अखर रही थीं। साहित्य की ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियां उन की उद्बुद्ध चेतना को आकुल कर रही थीं। उन्होंने इन सब पर निर्भीकता से प्रहार किया। उन्होंने भारत के अतीत गौरव के गीत गाये और उसकी सामयिक दीन दशा की ओर कवि-जनों का ध्यान आकृष्ट किया। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपने ढंग से

आवाज़ उठा कर उन्होंने आज के स्वराज्य के बीज बोए और साहित्य में राष्ट्रीय काव्यधारा को जन्म दिया।

तब तक काव्य की भाषा ब्रज ही चली आ रही थी। खड़ी बोली का प्रयोग गद्य तक ही सीमित था। यद्यपि खड़ी बोली के आन्दोलन ने वास्तविक बल और वेग उन के बाद ही ग्रहण किया तो भी इस की चर्चा उन के जीवन-काल में ही होने लगी थी। वस्तुतः भारतेन्दु ने ही सर्वप्रथम अनुभव किया था कि 'गद्य और पद्य की भिन्न-भिन्न भाषा होना हमारे लिए उतना अहंकार का विषय नहीं जितना लज्जा और उपहास का।' उन्होने खड़ी बोली में कविता के प्रयोग भी किये थे यद्यपि इस दिशा में सफलता प्राप्त करने के लिए अनुकूल परिस्थिति और प्रोत्साहन उन्हें नहीं मिल सका।

द्विवेदी युग में कवि के लिए ब्रजभाषा का प्रयोग धीरे-धीरे बहुत कम हो गया। श्रीधर पाठक, नाथूरामशङ्कर शर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी आदि अनेक कवियों ने खड़ी बोली में सफलतापूर्वक रचना कर उस की भाव-वहन की पूर्ण क्षमता को प्रमाणित किया। डा० ग्रियर्सन ने सरस्वती में छपने वाली खड़ी बोली की प्रारम्भिक रचनाओं की कर्कशता और काव्यत्व-शून्यता की ओर द्विवेदी जी का ध्यान आकृष्ट किया था और द्विवेदी जी की प्रेरणा से नाथूरामशङ्कर शर्मा जी ने सतत साधना और परिश्रम से सरस्वती की लाज बचाई थी। राष्ट्रीय काव्यधारा ने जिस का 'अथ' भारतेन्दु युग में हो चुका था, इस युग में अधिक साहस और बल प्राप्त किया। गुप्त जी की 'भारत भारती' ने नवयुवकों के हृदय में राष्ट्रीय चेतना के स्वर भरने का मंगल कार्य किया। आर्य समाज के प्रभाव से समाज-सुधार की प्रवृत्तियों को अत्यन्त प्रोत्साहन प्राप्त हुआ और कवि लोग प्राचीन भारत की गौरव-गाथा को मुखरित करने के साथ-साथ विधवा-विवाह,

स्त्री-शिक्षा, दलितोद्धार आदि के नवीन विषयों को काव्य में स्थान देने लगे। हरिऔध जी का 'प्रिय-प्रवास' तथा गुप्त जी का 'साकेत' इस युग के राष्ट्रीय जागरण के प्रतीक हैं।

द्विवेदी युग की कविता अधिकांश में इतिवृत्तात्मक थी। उस में सूक्ष्म पर्यवेक्षण का अभाव था। गम्भीरता और कोमलता के तत्व उस में नहीं आ पाए थे। हृदय को स्पर्श करने की क्षमता उस में नहीं थी। कविता की अपेक्षा यदि उसे पद्यात्मक गद्य कहा जाए तो अधिक समीचीन होगा। काव्य में इस गद्यात्मक नीरसता का कारण था द्विवेदी जी का भाषा के प्रति आग्रह। वे गद्य और पद्य दोनों की भाषा को पूर्णरूप से एकरस देखना चाहते थे। इस प्रयास से गद्य के विकास को अवश्य प्रोत्साहन प्राप्त हुआ परन्तु काव्य की आत्मा सिकुड़ कर रह गई। कोरे बुद्धिवाद ने उस के भावजगत् में नीरसता भर दी।

काव्य की इस रूक्षता और अकोमलता के प्रति जो विद्रोहात्मक प्रवृत्तियाँ प्रस्फुटित हुईं उन्हें 'छायावाद' की संज्ञा प्राप्त हुई। प्रसाद जी इस नवीन काव्यधारा के प्रवर्तक थे और सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, सुमित्रानन्दन पन्त तथा महादेवी जी समर्थ और प्रतिभाशाली अनुयायी। भाषा, भाव और शैली—सभी क्षेत्रों में छायावादी काव्यधारा ने क्रान्तिकारी नवीनता को जन्म दिया। द्विवेदी युग के कवि का दृष्टिकोण नैतिकता पर आधारित था, छायावादी कवि का सुरुचि, सौष्ठव एवं सौन्दर्य पर। वह पश्चिम के तद्युगीन रोमानी साहित्य से अधिक प्रभावित था। साहित्य की प्राचीन मान्यताएं उसे पूर्ण रूप से मान्य नहीं थीं। वह उन मान्यताओं में युग के अनुकूल परिवर्तन एवं संशोधन चाहता था। काव्य की कर्कशता को दूर कर उस ने उस में सरसता और माधुर्य का संचार किया। प्रकृति-सुन्दरी को मानवीय चेतना से अनुप्राणित कर उसके साथ निकटतम संबंध स्थापित किया। कोमल

भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल विधानों का सृजन किया। वाणी में नवीन अर्थसत्ता के दर्शन हुए और उसे नवीन अभिव्यंजना-सामर्थ्य प्राप्त हुई। छन्दों में भी अनेकों नवीन प्रयोग हुए और अतुकान्त कविता का जन्म हुआ। छायावादी काव्यधारा में क्षितिज के पार के प्रति संकेतों की भरमार है, परोक्ष के प्रति सबल जिज्ञासा है और वस्तु-जगत् के प्रति पूर्ण उदासीनता। यदि द्विवेदी काव्य में पाषाण की कठोरता थी, तो छायावादी काव्य में पग-पग पर नवनीत की कोमलता। प्रकृति का यह स्वस्थ नियम है कि वह चरमसीमा को प्राप्त हुई एकरसता को सहन नहीं करती। यहाँ भी ऐसा ही हुआ।

पश्चिम से एक नवीन विचारधारा आई और अपने साथ एक नवीन जीवन-दर्शन लाई। इस के प्रभाव से एक नवीन काव्यधारा का प्रादुर्भाव हुआ जिसे 'प्रगतिवादी' कहा गया। इस नवीन वाद का दृष्टिकोण यथार्थवादी था और है। इस धारा के कवियों ने पूर्ववर्ती काव्यधारा को पलायनवादी ठहराया और साहित्यकारों से वायवी वातावरण से निकल कर वस्तुजगत् की ओर बढ़ने की प्रेरणा की। श्रमिकों, कृषकों तथा अन्य शोषित एवं उत्पीड़ित वर्गों के प्रति सहानु-भूति इस धारा की मुख्य विशेषता है। पन्त जी जैसे छायावादी अनेक कवि भी इन नवीन विचारों की ओर बड़े वेग से प्रवृत्त हुए, परन्तु विदेशी भौतिकवाद से—जो इस का मूलवर्ती आधार था—आक्रान्त होकर कुछ एक कलाकारों ने भारतीय साहित्यिक मर्यादाओं का अति-क्रमण करते हुए यथार्थवाद के नाम पर कुछ एक ऐसी कृतियों का भी सृजन किया जिन में प्रगतिशीलता की अपेक्षा साहित्यिक नग्नता की मात्रा अधिक थी। इस प्रवृत्ति के विरुद्ध साहित्यिक विद्रोह होना अनिवार्य था और हो रहा है।

इन स्थूल धाराओं के साथ-साथ भारतेन्दु से लेकर आज तक गत

८० वर्षों में राष्ट्रीय काव्यधारा अदम्य वेग से निरन्तर प्रवाहित होती रही है! भारतेन्दु, गुप्त जी, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', रामधारीसिंह 'दिनकर', सोहनलाल द्विवेदी आदि अनेक कलाकारों ने इस धारा की श्रीवृद्धि में योग दिया है। ये सभी कलाकार स्वाधीनता-संग्राम के वीर सैनिक हैं। आज जब कि इस संग्राम में भारत विजयी हो चुका है और उस के साथ ही देश की समस्याएँ बदल चुकी हैं इस काव्यधारा की काया-माया ही बदल गई है। गीति-काव्य की परम्परा भी पुरानी है यद्यपि उस का आज का स्वरूप नवीन है। इसकी ओर हमारे कवियों की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ रही है। भारतेन्दु से लेकर आज तक के हिन्दी काव्य की यही स्थूल रूपरेखा है।

प्रस्तुत संग्रह निर्झरिणी में इसी की बानगी प्रस्तुत करने का यत्न किया गया है। भाषा और भाव दोनों माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के अनुकूल तथा जटिलता से उन्मुक्त हैं। शृङ्गारी रचनाओं को इस संग्रह में स्थान नहीं दिया गया है। केवल वही रचनाएँ स्थान प्राप्त कर सकी हैं जिनमें छात्रों के स्वस्थ चरित्र-निर्माण में सहायता देने की क्षमता है और जिन्हें छात्र-छात्राओं के सम्मुख रखने में अध्यापकवर्ग को किसी प्रकार का संकोच और कठिनाई न हो। केवल-मात्र इसी नियंत्रण को स्वीकार करते हुए आधुनिक युग की शेष सभी प्रमुख धाराओं की प्रतिनिधि-रचनाओं को स्थान देने का यत्न किया गया है। संकलन करते समय इस बात का यथासंभव ध्यान रखा गया है कि किसी कवि की संकलित रचनाएं उसकी एक ही कृति से न ली जाएं, वरन् उसकी अधिक से अधिक कृतियों से ली जाएं। इस से छात्रों को कवि की कला और व्यक्तित्व के पूर्णतः समझने में अवश्य सहायता मिलेगी। संग्रह के अन्त में संकलित कवियों के विस्तृत आलोचनात्मक परिचय तथा संक्षिप्त शब्द-कोष के अतिरिक्त कुछ एक विशिष्ट रचनाओं की सार-समालोचना

प्रस्तुत की गई है जिस में रचना के केन्द्रीय भाव, काव्य-सौन्दर्य तथा पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने का यत्न किया गया है। यह इस काव्यसंग्रह की एक प्रमुख विशेषता है। संग्रह को यथासंभव उपयोगी और सरस बनाने का यत्न किया गया है। यदि इस से छात्रों के हृदय में हमारे आधुनिक कलाकारों की काव्य-कला के प्रति अभिरुचि जागृत हो सके तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

संग्रह में संकलित रचनाओं के रचयिताओं एवं प्रकाशकों के प्रति मैं अत्यन्त आभारी हूँ। संकलन के लिए आवश्यक अनुमति प्रदान कर उन्होंने हमें अनुगृहीत किया है।

अन्त में पंजाब यूनिवर्सिटी के हिन्दी बोर्ड के प्रतिष्ठित सदस्यों के प्रति साभार कृतज्ञता प्रदर्शन करना मैं अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ जिन्होंने समय-समय पर मुझे अमूल्य सम्मति प्रदान करने की कृपा की है।

सम्पादक

जालन्धर
१. ५. ५५

सरनदास भनोत

Rs 5/-

विषय-सूची

निर्झरिणी

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

विनय—

(१)

प्रभु हो ऐसा तो न बिसारो।
कहन पुकारि नाथ तुव रूठे कहुँ न निबाह हमारो॥
जो हम बुरे होइ नहिं चूकत नित हीं करत बुराई।
तौ फिर भले होइ तुम छोड़त काहे नाथ भलाई॥
जो बालक अरुझाइ खेल में जननी-सुधि बिसरावै।
तौ कह माता ताहि कुपित ह्वै ता दिन दूध न प्यावै॥
मात-पिता गुरु स्वामी राजा जो न छमा उर लावै।
तौ सिसु-सेवक प्रजा न कोउ विधि जग में निबहन पावै॥
दयानिधान कृपानिधि केशव, करुणा, भक्त-भयहारी।
नाथ न्याउ तजते ही बनि है 'हरीचन्द' की बारी॥

(२)

प्यारे, अब तौ सही न जात।
कहा करैं कछु बनि नहिं आवत, निसि-दिन जिय पछितात॥
जैसे छोटे पिंजरा में कोउ पंछी परि तड़िपात।
त्योंही प्रान परे यह मेरे, छूटन को अकुलात॥
कछु न उपाव चलत अति व्याकुल, मुरि मुरि पछरा खात।
'हरीचंद' खींचौ अब कोउ बिधि छाँडि पाँच औ' सात॥

(३)

अहो हरि वेहू दिन कब ऐहैं।
जा दिन में तजि और संग सब हम ब्रजबास बसैहैं॥

संग करत नित हरि-भक्तन को हम नेकहु न अघैहैं।
सुनत श्रवण हरिकथा-सुधारस महामत्त ह्वै जैहैं॥
कब इन दोउ नैनन सों निसिदिन नीर निरन्तर बहिहैं।
'हरीचन्द' श्री राधे राधे कृष्ण कृष्ण कब कहिहैं॥

(४)

देखहु मेरी नाथ ढिठाई।
होइ महा अघ-रासि रहन हम चहत भगत कहवाई॥
कबहूँ सुधि तुम्हारी आवै जो छठे-छमाहे भूले।
ताहि सों मनि माहिं प्रेम अति रहत संत बनि फूले॥
एक नाम सों काटि पाप को करन पराच्छित आवैं।
निज अघ बड़वानलहि एक ही आँसू बूँद बुझावैं॥
जो व्यापक सर्वज्ञ न्यायरत धरम-अधीस मुरारी।
'हरीचंद' हम छलन चहत तेहि साहस पर बलिहारी॥

(५)

हम तो दोसहु तुम पै धरिहैं।
व्यापक प्रेरक भाखि-भाखि कै बुरे करम सब करिहैं॥
भलो करम जौ कछु बनि जैहैं सो कहि हैं हम कीनो।
निसि-दिन बुरे करम को फल सब तुम्हरे माथे दीनो॥
पतित पवित्र करन तब तुमरो साँची ह्वै है नाम।
जब तारिहौ हठी कोउ जैसे 'हरीचंद' अघ-धाम॥

(६)

बही मैं ठाम न नैकु रही।
भरि गई लिखत लिखत अघ मेरे बाकी तबहु रही॥
चित्रगुप्त हारे अति थकि के बेसुध गिरे मही।
जमपुर में हरताल परि है कछु नहिं जात कही॥

जम भाजे कछु खोज मिलत नहिं सब ही बही बही।
'हरीचन्द' ऐसे को तारौ तौ तुव नाम सही॥

गंगा-वर्णन—

नव उज्ज्वल जलधार, हार हीरक सी सोहति।
बिच-बिच छहरति बूंद मध्य मुक्ता-मनि पोहति॥
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नर-गन-मन विविध मनोरथ करत मिटावत॥ १॥

सुभग-स्वर्ग सोपान सरिस सब के मन भावत।
दरसन मज्जन पान त्रिविध भय दूर मिटावत॥
श्रीहरिपदनख-चन्द्रकान्तमनि-द्रवितसुधारस।
ब्रह्म-कमंडलु-मंडन, भव-खंडन सुर-सरवस॥ २॥

शिव सिर मालतिमाल, भगीरथ नृपति पुन्यफल।
ऐरावत गज गिरि-पति-हिम-नग कंठहार कल॥
सगर सुवन सठ सहस परस जलमात्र उधारण।
अगिनित धारा रूप धारि सागर सञ्चारण॥ ३॥

कासी कहँ प्रिय जानि ललकि भेंट्यो जग धाई।
सपनेहुँ नहिं तजी, रही अंकम लपटाई॥
कहूँ बँधे नव घाट उच्च गिरिवर सम सोहत।
कहुँ छतरी, कहुँ मढ़ी, मन मोहत जोहत॥ ४॥

धवल धाम चहुँ ओर, फरहरत धुजा पताका।
घहरत घंटा धुनि, धमकत धौंसा करि साका॥
मधुरी नौबत बजत, कहूँ नारी नर गावत।
वेद पढ़त कहूँ द्विज, कहुँ जोगी ध्यान लगावत॥ ५॥

कहुँ सुन्दरी नहात बारि कर-जुगल उछारत।
जुग अंबुज मिलि मुक्तगुच्छ मनु सुच्छ निकारत॥
धोवत सुन्दरि बदन करन अति ही छवि पावत।
बारिध नाते ससि कलंक मनु कमल मिटावत॥ ६॥
सुन्दरि सखि मुख नीर मध्य इमि सुंदर सोहत।
कमल बेली लहलही नवल कुसुमन मन मोहत॥
दीठि जहीं जहँ जात रहत तितहीं ठहराई।
गंगा छवि हरिचन्द कछू बरनी नहिं जाई॥ ७॥

नारद-महिमा—

पिंग जटा को भार सीस पै सुन्दर सोहत।
गल तुलसी की माल बनी जोहत मन मोहत॥
कटि मृगपति को चरम, चरन मैं घुँघरू धारत।
नारायण गोविंद कृष्ण यह नाम उचारत॥
लै बीना कर बादन करत तान सात सुर सों भरत।
जग अघ छिन मैं हरि कहि हरत जेहि सुनि नर भव-जल तरत॥
जुग तूंबन की बीन परम सोभित मनभाई।
लय अरु सुर की मनहुँ जुगल गठरी लटकाई॥
आरोहन अवरोहन के कै द्वै फल सोहैं।
कै कोमल अरु तीव्र सुर भरे जग-मन मोहैं॥
कै श्रीराधा अरु कृष्ण के अगनित गुन गन के प्रगट।
यह अगम खजाने द्वै भरे नित खरचत तो हू अघट॥
मनु तीरथ-मय कृष्ण-चरित की काँवरि लीने।
कै भूगोल खगोल दोउ कर-अमलक कीने॥

जग-बुद्धि तौलन हेत मनहुँ यह तुला बनाई।
भक्ति-मुक्ति की जुगल पिटारी कै लटकाई॥
मनु गावन सों श्रीराग के बीना हू फलती भई।
कै राग-सिंधु के तरन हित, यह दोऊ तूंबी लई॥
ब्रह्म-जीव, निरगुन-सगुन, द्वैताद्वैत-विचार।
नित्य-अनित्य विवाद के द्वै तूँबा निरधार॥
जो इक तूँबा लै कढ़ै, सो बैरागी होय।
क्यों नहि ये सबसों बढ़ै, लै तूँबा कर दोय॥

संसार की असारता—

सोई मुख जेहि चन्द बखान्यो।
सोई अंग जेहि प्रिय करि जान्यौ॥
सोई भुज जे प्रिय गर डारैं।
सोई भुज जिन नर विक्रम पारैं॥ १॥
सोई पद जेहि सेवक वन्दत।
सोई छवि जेहि देखि अनन्दत॥
सोई रसना जहँ अमृत बानी।
जेहि सुनि के हिय नारि जुड़ानी॥ २॥
सोई हृदय जहँ भाव अनेका।
सोई सिर जहँ निज बच टेका॥
सोई छवि मय अंग सुहाये।
आज जीव बिनु धरनि सुहाये॥ ३॥
कहां गई वह सुन्दर शोभा।
जीवत जेहि लखि सब मन लोभा॥

प्रानहु ते बढ़ि जा कहँ चाहत।
ता कहँ आज सबै मिलि दाहत ॥ ४ ॥

फूल बोझहू जिन न सहारे।
तिन पै बोझ काठ बहु डारे ॥
सिर पीड़ा जिनकी नहिं हेरी।
करत कपालक्रिया तिन केरी ॥ ५ ॥

छिनहूँ जे न भये कहुँ न्यारे।
तेउ बन्धुगन छोड़ि सिधारे ॥
जो दृग कोर महीप निहारत।
आजु काक तेहि भोज विचारत ॥ ६ ॥

भुजबल जे नहिं भुवन समाये।
ते लखियत मुख कफन छिपाये ॥
नरपति प्रजा भेद बिनु देखे।
गने काल सब एकहि लेखे ॥ ७ ॥

सुभग कुरूप अमृत विष साने।
आजु सबै इक भाव बिकाने ॥
पुरु दधीच कोऊ अब नाहीं।
रहे नाम ही ग्रन्थन माँहीं ॥ ८ ॥

नाथूरामशंकर शर्मा

प्रचण्ड प्रतिज्ञा—

१

दया का दान देने को जिन्हों ने जन्म धारे हैं,
न ब्रह्मानन्द से न्यारे न विद्या ने विसारे हैं।
जिन्हों ने योग से सारे खरे-खोटे निहारे हैं,
प्रतापी देश के प्यारे विदेशों के दुलारे हैं।
हमें अन्धेर-धारा से भला वे क्यों न तारेंगे,
बिगाड़ों को बिगाड़ेंगे सुधारों को सुधारेंगे॥

२

भलाई को न भूलेंगे सुशिक्षा को न छोड़ेंगे,
हठीले प्राण खो देंगे प्रतिज्ञा को न तोड़ेंगे।
प्रजा के और राजा के गुणों की गांठ जोड़ेंगे,
भिड़ेंगे भेद का भांडा धड़ाका मार फोड़ेंगे।
लड़ेंगे लोभ-लीला के लुटेरों से न हारेंगे,
बिगाड़ों को बिगाड़ेंगे सुधारों को सुधारेंगे॥

३

जतीले जाति के सारे प्रबन्धों को टटोलेंगे,
जनों को सत्य-सत्ता की तुला से ठीक तोलेंगे।
बनेंगे न्याय के नेगी खलों की पोल खोलेंगे,
करेंगे प्रेम की पूजा रसीले बोल बोलेंगे।
गपोड़े पागलों के-से समाजों में न मारेंगे,
बिगाड़ों को बिगाड़ेंगे सुधारों को सुधारेंगे॥

४

अड़ीले अन्ध विश्वासी उलूकों को उड़ादेंगे,
अछूती छूतछैया की अछोपाई छुड़ादेंगे।
मरों के साथ जीतों के जुड़े नाते तुड़ादेंगे,
तरेंगे ज्ञान-गंगा में अविद्या को बुड़ादेंगे।
सुधी सद्धर्म धारेंगे सुकर्मों को उधारेंगे
बिगाड़ों को बिगाड़ेंगे सुधारों को सुधारेंगे॥

५

सुशीला बालिकाओं को लिखावेंगे-पढ़ावेंगे,
न कोरी कर्कशाओं को बृथा सोना गढ़ावेंगे।
प्रवीणा को प्रतिष्ठा के महाचल पै चढ़ावेंगे।
सती के सत्य की शोभा प्रशंसा से बढ़ावेंगे।
सुभद्रा देवियों को यों दया दानी दुलारेंगे,
बिगाड़ों को बिगाड़ेंगे सुधारों को सुधारेंगे॥

६

फलेगी प्राणदा खेती किसानों के कुमारों की,
बढ़ेगी सम्पदा पूंजी खरे दूकानदारों की।
बढ़ा देगी कलाकारी कमाई शिल्पकारों की,
बड़ाई लोक में होगी प्रतापी होनहारों की।
करेंगे नाम कामों की प्रथा प्यारी प्रसारेंगे,
बिगाड़ों को बिगाड़ेंगे सुधारों को सुधारेंगे॥

७

अड़ीले मस्त गुंडों के अखाड़ों को उखाड़ेंगे,
ठगों की पेट-पूजा के बसे खेड़े उजाड़ेंगे।
रहेंगे दूर दुष्टों से कुशीलों को लताड़ेंगे,
खलों का खोज खोदेंगे पिशाचों को पछाड़ेंगे।

घिनोनी मोह-माया के प्रपंचों को पजारेंगे।
बिगाड़ों को बिगाड़ेंगे सुधारों को सुधारेंगे॥

८

सुधी श्रद्धा-सुधा सारे सुकर्मों को पिलावेंगे,
करेंगे नाश मिथ्या का सचाई को जिलावेंगे।
मिलापी मेल-माला में निरालों को मिलावेंगे,
न गन्दी गर्व-गाथा से पहाड़ों को हिलावेंगे।
मिलो भाई संगाती यों अछूतों को पुकारेंगे,
बिगाड़ों को बिगाड़ेंगे सुधारों को सुधारेंगे॥

९

विवेकी ब्रह्म-विद्या की महत्ता को बखानेंगे,
बड़ा कूटस्थ अत्ता से किसी को भी न मानेंगे।
प्रमादी देश-विद्रोही जड़ों को नीच जानेंगे,
ठगी के जाल भोलों के फँसाने को न तानेंगे।
कभी पाखण्ड पापी के न पैरों को पखारेंगे,
बिगाड़ों को बिगाड़ेंगे सुधारों को सुधारेंगे॥

१०

बड़ों के मंत्र मानेंगे प्रसंगो को न भूलेंगे,
कहो क्या ऊँच-ऊँचों की ऊँचाई को न छूलेंगे।
बढ़ेंगे प्रेम के पौधे दया के फूल फूलेंगे,
भरे आनन्द से चारों फलों के झाड़ झूलेंगे।
सबों को शंकरानन्दी अनिष्टों से उबारेंगे।
बिगाड़ों को बिगाड़ेंगे सुधारों को सुधारेंगे॥

———

प्रशस्त पाठ—

१

बिन वास बसे वसुधा-भर में, द्रवता रसहीन बहे वन में,
चमके बिन रूप हुताशन में, विचरे बिन छूत प्रभञ्जन में।
गरजे बिन शब्द खमण्डल में, बिन भेद रहे जड़-चेतन में,
कवि शंकर ब्रह्म विलास करे, इस भांति विवेक-भरे मनमें।

२

शुभ सत्य सनातन धर्म वही, जिस में मत-पन्थ अनेक नहीं,
बल-वर्द्धक वेद वही जिस में, उपदेश अनर्थक एक नहीं।
अविकल्प समाधि वही जिसमें, सुख-संकट का व्यतिरेक नहीं,
कवि शंकर बुद्ध विशुद्ध वही, जिसके मन में अविवेक नहीं।

३

मिल वैदिक मंत्र-पयोद घने, सुविचार-महाचल पै बरसें,
विधि और निषेध प्रवाह बहें, उपदेश-तड़ाग-भरे दरसें।
व्रत-साधन-वृक्ष बढ़ें विकसें, लटकें फल चार पकें-खरसें,
कवि शंकर मूढ़ विवेक बिना, इस रूपक के रस को तरसें।

४

जड़-चेतन भूत अधीन रहें, गुण साधन दान करें जिसको,
सब को अपनाय सुधार करे, शुभचिंतक रोक रहे रिसको।
बन जीवन-मुक्त सुखी विचरें, तज मौखिक दन्तघिसाघिस को,
कवि शंकर ब्रह्म-विवेक बिना, इतने अधिकार मिले किस को।

५

गिन खेट, भकूट खमण्डल में, फल ज्योतिष के पहचान लिये,
कर शिल्प, रसायन की रचना, रच भौतिक तत्व विधान लिये।
समझे गुण-दोष चराचर के, नव द्रव्य यथाक्रम मान लिये,
कवि शंकर ज्ञान-विशारद ने, सब के सब लक्षण जान लिये।

६

परिवार-विलास विसार दिये, क्षणभंगुर भोग भरे घर में,
समता उपजी, ममता न रही, अपवित्र अनित्य कलेवर में।
अभिमान मरा, भ्रम दोष मिटे, अनुराग रहा न चराचर में,
कवि शंकर पाय विवेक टिके, इस भांति महामुनि शंकर में।

७

भ्रम-कुम्भ असार असत्य-भरे, गिर सत्य-शिला पर फूट गये,
हठवाद, प्रमाद न पास रहे, दृढ़ मायिक बन्धन टूट गये।
समझे अज एक सदाशिव को, कुविचार, कुलक्षण छूट गये,
कवि शंकर सिद्ध, प्रसिद्ध, सुधी, सुख-जीवन का रस लूट गये।

८

सुरपादप निर्भय न्याय बने, घनश्याम घटा बनजाय दया,
रुचि-भू पर प्रीति-सुधा बरसे, बन ब्यार बहे करनी अभया।
उपकार मनोहर फूल खिलें, सब को दरसे नय-दृश्य नया,
कवि शंकर पुण्य फले उसका, जिसमें गुरु-ज्ञान समाय गया।

९

कब कौन अगाध पयोनिधि के, उस पार गया जल-यान बिना,
मिल प्राण, अपान, उदान रहे, तन में न समान सव्यान बिना।
कहिये ध्रुव ध्येय मिला किस को, अविकल्प अचञ्चल ध्यान बिना,
कवि शंकर मुक्ति न हाथ लगी, भ्रम-नाशक निर्मल ज्ञान बिना।

१०

पढ़ पाठ प्रचण्ड प्रमाद-भरे, कपटी जन जन्म गमाय गये,
रण रोप भयानक आपस में, भट केवल पाप कमाय गये।
धन-धाम विसार धरातल में, धनवान असंख्य समाय गये,
कवि शंकर सिद्ध मनोरथ की, जड़ शुद्ध सुबोध जमाय गये।

११

उपदेश अनेक सुने मन को, रुचि के अनुसार सुधार चुके,
धर ध्यान यथाविधि मन्त्र जपे, पढ़ वेद पुराण विचार चुके।
गुरु-गौरव धार महन्त बने, धन-धाम कुटुम्ब विसार चुके,
कवि शंकर ज्ञान बिना न तरे, सब ओर फिरे भख मार चुके।

१२

निगमागम, तंत्र, पुराण पढे, प्रतिवाद-प्रगल्भ कहाय खरे,
रच दम्भ प्रपञ्च पसार घने, बन वञ्चक वेष अनेक धरे।
विचरे कर पान प्रमाद-सुरा, अभिमान हलाहल खाय मरे,
कवि शंकर मोह-महोदधि को, वकराज विवेक विना न तरे।

१३

गुरु-गौरवहीन कुचाल चलें, मतभेद पसार प्रपञ्च रचें,
दिन-रात मनोमुख मूढ़ लड़ें, चहुँ ओर घने घमसान मचें।
व्रत-बन्धन के मिस पाप करें, हठ छोड़ न हाय लबार लचें,
कवि शंकर मोह-महासुर से, बिरले जन पाय विवेक बचें।

१४

घर-बार विसार विरक्त बने, मुनि वेष बनाय प्रमत्त रहें,
बकबाद अबोध गृहस्थ सुनें, शठ शिष्य अनन्य सुजान कहें।
घुस घोर घमण्ड-महावन में, विचरें कुलबोर कुपन्थ गहें,
कवि शंकर एक विवेक बिना, कपटी उपताप अनेक सहें।

१५

तन सुन्दर रोग-विहीन रहे, मन त्याग उमङ्ग, उदास न हो,
मुख धर्म-प्रसंग प्रकाश करे, नर-मण्डल में उपहास न हो।
धन की महिमा भरपूर मिले, प्रतिकूल मनोज-विलास न हो,
कवि शंकर ये उपभोग वृथा, पटुता, प्रतिभा यदि पास न हो।

१६

दिन-रात समोद विलास करें, रस-रंग-भरे सुख-साज बनें,
शिर धार किरीट कृपान गहें, अवनी-भरके अधिराज बनें।
अनुकूल अखण्ड प्रताप रहे, अविरुद्ध अनेक समाज बनें,
कवि शंकर वैभव ज्ञान बिना, भवसागर के न जहाज बने।

१७

जिस पै करतूत चली न किसी, नर, किन्नर, नाग, सुरासुर की,
बल, साहस के फल से न भिड़ी, हठ भीरु, भगोड़ भयातुर की।
गति उद्यम के मग में न रुकी, अति उच्च उमंग-भरे उर की,
कवि शंकर पै बिन ज्ञान उसे, प्रभुता न मिली प्रभु के पुर की।

१८

अनमेल अनीति-प्रचार करें, अपवित्र प्रथा पर प्यार करें,
खल-मण्डल का उपकार करें, बिगड़े न समाज सुधार करें।
अपकार अनेक प्रकार करें, व्यभिचार सुकर्म विसार करें,
कवि शंकर नीच विचार करें, बिन बोध बुरे व्यवहार करें।

१९

कुलबोर कठोर महा कपटी, कब कोमल कर्म-कलाप करें,
पशु पोच प्रचण्ड प्रमाद-भरे, भरपेट भयानक पाप करें।
प्रण रोप लड़ें लघु आपस में, तज वैर न मेल-मिलाप करें,
कवि शंकर मूढ़ विवेक बिना, अपना गल-बन्धन आप करें।

२०

बिन पावक देव न पा सकते, अभिमंत्रित आहुतियाँ हवि की,
रसराज न सुन्दर साज सजे, छिटके मिल जो न छटा छवि की।
ग्रह-ऋक्ष खिलें न खमण्डल में, यदि प्यार करे न प्रभा रवि की,
कवि शंकर तो बिन ज्ञान किसे, पदवी मिल जाय महाकवि की।

—

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

यशोदा का उद्वेग—

ऊधो, आदौ तिमिर-मय था भाग्य-आकाश मेरा।
धीरे-धीरे फिर वह हुआ स्वच्छ सत्कान्ति-शाली।
ज्योतिर्माला-वलित उसमें चन्द्रमा एक न्यारा।
राका-श्री ले समुदित हुआ चित्त-उत्फुल्ल-कारी॥ १॥

आभा वाले उस गगन में भाग्य दुर्वृत्तता की।
काली काली अब फिर घटा है महा घोर छाई।
हा! आंखों से सु-विधु जिससे हो गया दूर मेरा।
ऊधो, कैसे यह दुखमयी मेघ-माला टलेगी॥ २॥

फूले नीले वनज-दल सा गात का रंग प्यारा।
मीठी-मीठी मलिन मन की मोदिनी मंजु बातें।
सोंधे-डूबी-अलक यदि है श्याम की याद आती।
ऊधो, मेरे हृदय पर तो सांप है लोट जाता॥ ३॥

पीड़ा-कारी-करुण-स्वर से हो महा-उन्मना सी।
हा! रो रो के स-दुख जब यों शारिका पूछती है।
वंशीवाला हृदय-धन सो श्याम मेरा कहां है।
तो है मेरे हृदय-तल में शूल सा विद्ध होता॥ ४॥

त्यौहारों को अपर कितने पर्व औ उत्सवों को।
मेरा प्यारा तनय अति ही भव्य देता बना था।
आते हैं वे व्रज अवनि में आज भी किन्तु, ऊधो!
दे जाते हैं परम दुख औ' वेदना हैं बढ़ाते

कैसा प्यारा जनम-दिन था धूम कैसी मची थी।
संस्कारों के समय सुत के रंग कैसा जमा था।
मेरे जी में उदय जब वे दृश्य हैं आज होते।
हो जाती तो प्रबल-दुख से मूर्त्ति मैं हूँ शिला की ॥ ६ ॥

कालिंदी के पुलिन पर की मंजु-वृन्दाटवी की।
फूले नीले-तरु निकर की कुञ्ज की आलयों की।
प्यारी-लीला-सकल जब हैं लाल की याद आती।
तो कैसा है हृदय मलता मैं उसे क्यों बताऊं ॥ ७ ॥

मारा मल्लों-सहित गज को कंस से पातकी को।
मेटीं सारी नगर-वर की दानवी—आपदायें।
छाया सच्चा-सुयश जग में पुण्य की वेलि बोई।
जो प्यारे ने स-पति दुखिया देवकी को छुड़ाया ॥ ८ ॥

जो होती है सुरत उनके कम्प-कारी दुखों की।
तो आँसू है विपुल बहता आज भी लोचनों से।
ऐसी दग्धा परम-दुखिता जो हुई मोदिता है।
ऊधो तो हूं परम सुखिता हर्षिता आज मैं भी ॥ ६ ॥

तो भी पीडा-परम इतनी बात से हो रही है।
काढ़े लेती मम-हृदय क्यों स्नेह-शीला सखी है।
हो जाती हूं मृतक सुनती हाय ! जो यों कभी हूँ।
हो जाता मम तनय भी अन्य का लाडिला है ॥ १० ॥

मैं रोती हूं हृदय अपना कूटती हूँ सदा ही।
हा ! ऐसी ही व्यथित अब क्यों देवकी को करूंगी।
प्यारे जीयें पुलकित रहें औ' बनें भी उन्हीं के।
धाई नाते वदन दिखला एकदा और देवें ॥ ११ ॥

नाना यत्नों अपर कितनी युक्तियों से जरा में।
मैंने ऊधो! सुकृति बल से एक ही पुत्र पाया।
सो जा बैठा अरि-नगर में हो गया अन्य का है।
मेरी कैसी, अहह कितनी, मर्म्म-वेधी व्यथा है॥ १२॥

पत्रों पुष्पों रहित विटपी विश्व में हो न कोई।
कैसी ही हो सरस सरिता वारि-शून्या न होवे।
ऊधो सीपी-सदृश न कभी भाग फूटे किसी का।
मोती ऐसा रतन अपना आह! कोई न खोवे॥ १३॥

अंभोजों से रहित न कभी अंक हो वापिका का।
कैसी ही हो कलित-लतिका पुष्प-हीना न होवे।
जो प्यारा है परम-धन है जीवनाधार जो है!
ऊधो ऐसे रुचिर-विटपी शून्य वाटी न होवे॥ १४॥

छीना जावे लकुट न कभी वृद्धता में किसी का।
ऊधो कोई न कल-छल से लाल ले ले किसी का।
पूञ्जी कोई जनम भर की गांठ से खो न देवे।
सोने का भी सदन न विना दीप के हो किसी का॥ १५॥

उद्विग्ना औ' विपुल-विकला क्यों न सो धेनु होगी।
प्यारा लैरू अलग जिसकी आंख से हो गया है।
ऊधो कैसे व्यथित-अहि सो जी सकेगा बता दो।
जीवोन्मेषी रतन जिसके शीश का खो गया है॥ १६॥

कोई देखे न सब-जग के बीच छाया अंधेरा।
ऊधो कोई न निज-दृग की ज्योति-न्यारी गँवावे।
रो रो हो हो विकल न सभी वार बीतें किसी के।
पीड़ायें हों सकल न कभी मर्म्म-वेधी व्यथा हो॥ १७॥

ऊधो होता समय पर जो चारु चिन्ता-मणी है।
खो देता है तिमिर उर का जो स्वकीया प्रभा से।
जो जी में है सुरसरित सी स्निग्ध-धारा बहाता।
बेटा ही है अवनि-तल में रत्न ऐसा निराला ॥१८॥

ऐसा प्यारा रतन जिसका हो गया है पराया।
सो होवेगी व्यथित कितना सोच जी में तुम्हीं लो।
जो आती हो मुझ पर दया अल्प भी तो हमारे।
सूखे जाते हृदय-तल में शान्ति-धारा बहा दो ॥१९॥

छाता जाता व्रज-अवनि में नित्य ही है अंधेरा।
जी में आशा न अब यह है मैं सुखी हो सकूंगी।
हां, इच्छा है तदपि इतनी एकदा और आके।
न्यारा-प्यारा-वदन अपना लाल मेरा दिखा दे ॥२०॥

मैंने बातें यदि च कितनी भूल से की बुरी हैं।
ऊधो बाँधा सुअन कर है आंख भी है दिखाई।
मारा भी है कुसुम-कलिका से कभी लाडिले को।
तो भी मैं हूं निकट सुत के सर्वथा मार्जनीया ॥२१॥

जो चूकें हैं विविध मुझसे हो चुकीं वे सदा ही।
पीडा दे दे मथित चित को ,प्रायशः हैं सताती।
प्यारे से यों विनय करना वे उन्हें भूल जावें।
मेरे जी को व्यथित न करें क्षोभ आ के मिटावें ॥२२॥

प्यारे-ऊधो ! कब तक तुम्हें वेदनायें सुनाऊं।
मैं होती हूँ विरत यह हूँ किन्तु तो भी बताती।
जो टूटेगी कुंवर-वर के लौटने की सु-आशा।
तो जावेगी उजड़ व्रज औ' मैं न जीती बचूंगी ॥२३॥

प्रकृति से शिक्षा—

जल में जल से गुरु पदार्थ हैं डूबते।
मां तुमने मुझ से हैं ए बातें कहीं॥
काठ कहा जाता है गुरुतर वारि से।
क्यों नौका जल में निमग्न होती नहीं॥ १॥

सुने प्रश्न कुश का माता ने यह कहा।
बड़े बड़ाई को हैं कभी न भूलते॥
जल तरुओं को सींच सींच है पालता।
उसके बल से वे हैं फलते-फूलते॥ २॥

जब वे होते तप्त बनाता तर उन्हें।
जब होते निर्बल तब कर देता सबल॥
उसी की सरसता का अवलम्बन मिले।
अनुपम-रस पाते थे उनके सकल-फल॥ ३॥

वह जल देता क्यों उस नौका को डुबा।
जो तरु के तन द्वारा है निर्मित हुई॥
सदा एक रस रहती है उत्तम-प्रकृति।
तन-हित करती है तनबिन कर भी रुई॥ ४॥

है मुँह-देखी प्रीति, प्रीति सच्ची नहीं।
वह होती है असम, स्वार्थ-साधन-रता॥
जीते जगती रह, है मरे न भूलती।
पूत सलिल सी पूत-चित्त की पूतता॥ ५॥

जितने तरु प्रतिबिम्बित थे सरि-सलिल में।
उन्हें कुछ समय तक लव रहे विलोकते॥
फिर माता से पूछा क्या ए कूल द्रुम।
जल में अपना आनन हैं अवलोकते॥ ६॥

मां बोली वे क्यों जल में मुंह देखते।
जो हैं ज्ञान-रहित जो जडता-धाम हैं॥
है छाया-ग्राहिणी शक्ति विमलाम्बु में।
तरु प्रतिबिम्बितकरण उसी का काम है॥ ७॥

सत्य बात सुत! मैंने बतला दी तुम्हें।
किन्तु क्रियायें तरु की हैं शिक्षा भरी॥
तुम लोगों को यही चाहिये सीख लो।
मिले जहां पर कोई शिक्षा हितकरी॥ ८॥

सरिता सेचन कर तरुओं को सलिल से।
हरा-भरा रखकर उनको है पालती॥
अवसर पर तर रख, कर शीतल तपन में।
जीवन से उनमें है जीवन डालती॥ ९॥

यथासमय तो उसको छाया-दान कर।
तरुवर भी उस पर बरसाते फूल हैं॥
उसके सुअनों को देते हैं सरस-फल।
सज्जित उनसे रहते उसके कूल हैं॥१०॥

उपकारक के उपकारों को याद रख।
करते रहना अवसर पर प्रतिकार भी॥
है अति, उत्तम, कर्म्म, धर्म्म है लोक का।
हो कृतज्ञ, न बने अकृतज्ञ मनुज कभी॥११॥

यों भी तरु हैं लोक-हित निरत दीखते।
आतप में रह करते छाया-दान हैं॥
उनके जैसा फलद दूसरा कौन है।
सुर-शिर पर किनके फूलों का स्थान है॥१२॥

हैं उनके पंचांग काम देते बहुत ।
छबि दिखला वे किसे मुग्ध करते नहीं ॥
लेते सिर पर भार नहीं जो वे उभर ।
तो भूतल के विपुल उदर भरते नहीं ॥१३॥

है रसालता किसको मिली रसाल सी ।
कौन गुलाब-प्रसूनों जैसा कब खिला ॥
सबके हित के लिए झकोरे सहन कर ।
कौन सब दिनों खड़ा एक पद से मिला ॥१४॥

तरु वर्षा-शीतातप को सहकर स्वयं ।
शरणागत को करते आश्रय दान हैं ॥
प्रातः कलरव से होता यह ज्ञात है ।
खगकुल करते उनका गौरव-गान हैं ॥१५॥

पाता है उपहार 'प्रहारक' फलों का—
किससे, किसका मर्म्मस्पर्शी मौन है ॥
द्रुम समान अवलम्बन विहग-समूह का ।
कर्त्तनकारी का हित-कर्त्ता कौन है ॥१६॥

तरु जड़ हैं इन सारे कामों को कभी ।
जान बूझ कर वे कर सकते हैं नहीं ॥
पर क्या इनमें छिपे निगूढ़-रहस्य हैं ।
कैसे जा सकती हैं ए बातें कही ॥१७॥

—

मैथिलीशरण गुप्त

यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद—

"आहा मेरी अरणि-मथानी।"
"गूञ्जी वटु की व्याकुल वाणी—"
"यह देखो, वह हरिण अभागा
सींगों में उलझा कर भागा।"
सुनकर सब पांडव घबराये,
धनुर्बाण लेकर उठ धाये।

मृग था मायामृग-सा सीखा
कहां जा छिपा दीखा-दीखा?
पांचों उसे खोज थक हारे,
फिरे गहन में मारे मारे।

देख एक वट भूले भटके
वहां सांस लेने को अटके,
रोम रोम से वहा पसीना,
चाहा सब ने पानी पीना।

देख प्रथम पादप पर चढ़कर
गए नकुल जल लेने बढ़कर।
हुआ परन्तु विफल उनका श्रम,
अन्य अनुज भी गये यथाक्रम।
होकर चिन्ता से अति अस्थिर,
चले अन्त में आप युधिष्ठिर।

जब तड़ाग-तट पर वे आये,
मृत-से अनुज उन्हों ने पाये।
हुए स्वयं भी जड़ वे शव-से
और दग्ध मन के वन-दव से।
फिर भी धीर भाव की दीक्षा,
लेने- देने चली परीक्षा।
आकृति बिगड़ी न थी किसी की
उनको आशा बंधी इसी की।
बढ़े वीर पानी लेने को,
उन सब को छींटे देने को।
शब्द हुआ - "जल पीछे लेना,
पहले मुझको उत्तर देना।
न हो अन्यथा अनुजों की गति
देख रहे हो तुम जो सम्प्रति।"
"भाई, कह तू कौन कहां है?"
"समझो यक्ष अलक्ष यहां है।"
"तो क्या इष्ट अन्य गति मुझको?
किन्तु पूछना है क्या तुझको?
यथाबुद्धि मैं उत्तर दूंगा,
तात, त्वरा कर, उपकृत हूंगा।
तेरी वाणी में जो गुण है,
रूप दिखाता वह दारुण है।
किन्तु दीखता मुझे हृदय है,
निश्चय ही वह करुणामय है।"
गुह्यक गिरा सौम्य हो आई,
करका ने ज्यों द्रवता पाई।

किये प्रश्न उसने मन भाये,—
आप उत्तरों में वे आये।

"विविध श्रुति-स्मृतियां कल्याणी
भिन्न भिन्न मुनियों की बाणी।
गूढ धर्म गति, पूछूँ किससे,
पथ वह, गये महाजन जिससे।
सबसे निश्चित यही बात है—
काल लगाये हुए घात है।
कर्मों का ही वहां भरोसा,
यहां जिन्हें है पाला पोसा।
नित्यप्रति बहु जन मरते हैं,
तदपि मृत्यु से हम डरते हैं।
इससे अधिक कौन विस्मय है,
जो निश्चित है, उससे भय है!
उर्वी से गुर्वी है माता,
पिता व्योम से ऊंचा जाता।
गृहिणी से है गृह की गृहता,
सुख है शील, शान्ति निःस्पृहता।
लोभ-हानि ही लाभ-वृद्धि है
सत्संगति ही लोक-सिद्धि है।
स्थिर वह, जिसे नहीं कुछ देना,
सन्तोषी को है क्या लेना?
अग्नि विना है क्रोध जलाता,
परहित परम तृप्ति का दाता।

कुल तो है चारित्र्य हमारा,
अविचल क्या है, चलती धारा।
क्या है भिन्न गुणों की निजता,
शूद्र शूद्रता, द्विज की द्विजता!
व्यर्थ विशुद्धि गर्व है किसको?
जाति वर्ण कहते हैं जिसको!
काम धर्म से युक्त वहां है,
पति - पत्नी - व्रत एक जहां है।
दया - दान में अर्थ - शुद्धि है,
मोह नहीं तो विमल बुद्धि है।
अविश्वस्त भी जो है प्यारा,
वह जन का जीवन ही न्यारा।
तप है, जो निज कर्म करें हम,
सत्य - अहिंसा धर्म धरें हम।
"साधु, तुम्हारे शुभ विवेक को!
चारों में तुम चुनो एक को।
उस जन को मैं अभी जिला दूं,
स्फुरित हृदय से, हृदय मिला दूं।"
यह सुन पल भर रुके युधिष्ठिर,
गद्गद से होकर बोले फिर—
"जगे नकुल दीपक-सा घर का,
प्रिय प्रतिबिम्ब श्यामसुन्दर का!"
"भूल भीम अर्जुन से भाई,
तुम्हें नकुल की सुध क्यों आई?
कहाँ समर्थ भीम-सा भ्राता?
और कौन अर्जुन-सा त्राता?

हुए शोक से नष्टस्मृति तुम,
फिर से करो विचार सुकृति तुम।"

"तात, विचार लिया है मैंने,
अनुचित नहीं किया है मैंने।
दीखे चाहे मुझे अन्धेरा,
पर आत्मीय धर्म ही मेरा।
भीमार्जुन से भी वह पहले,
उसकी हानि कौन जन सह ले?
धर्म-हेतु जीवित मैं जग में,
मर भी सकूं उसी के मग में।
रक्षक वही रक्ष्य इस जन का,
लक्षक और लक्ष्य जीवन का।
मेरी दो माताएं विश्रुत,
जीवित हूँ मैं कुन्ती का सुत।
जिये नकुल यह माद्री-नन्दन—
मेरे तप्त चित्त का चन्दन"

"जय भारत, जब दृढता-दीक्षित,
हुए तात, तुम सफल परीक्षित।
चारों ही प्राणों से प्यारे,
अभी उठेंगे अनुज तुम्हारे।
आओ, तब तक मुझको भेटो,।
मन की दुश्चिन्ताएं मेटो।
मैं ने ही था मृग-तनु धारा,
मूर्त्त धर्म मैं तात, तुम्हारा।"

—

माखनलाल चतुर्वेदी

जवानी—

प्राण अन्तर में लिये, पागल जवानी ?
कौन कहता है कि तू
विधवा हुई, खो आज पानी ?
चल रहीं घड़ियाँ,
चले नभ के सितारे,
चल रहीं नदियाँ,
चले हिम-खंड प्यारे;
चल रही है सांस,
फिर तू ठहर जाये ?
दो सदी पीछे कि
तेरी लहर जाये ?
पहन ले नर-मुण्ड-माला
उठ स्वमुण्ड सुमेरु कर ले;
भूमि-सा तू पहन बाना आज धानी
प्राण तेरे साथ हैं, उठ री जवानी !

२

द्वार बलि का खोल
चल, भूडोल कर दें,
एक हिम-गिरि एक सिर
का मोल कर दें,

मसल कर, अपने
इरादों-सी, उठा कर
दो हथेली हैं कि
पृथ्वी गोल कर दें ?

रक्त है ? या है नसों में क्षुद्र पानी ?
जांच कर तू सीस दे-दे कर जवानी !

३

वह कली के गर्भ से फल-
रूप में, अरमान आया !
देख लो मीठा इरादा,
किस तरह, सिर तान आया !

डालियों ने भूमि रुख लटका
दिये फल, देख आली !
मस्तकों को दे रही
संकेत कैसे, वृक्ष-डाली !

फल दिये ? या सिर दिये ? तरु की कहानी
गूंथ कर युग में, बताती चल जवानी।

४

श्वान के सिर हो—
चरण तो चाटता है !
भोंक ले—क्या सिंह
को यह डांटता है ?
रोटियां खायीं कि
साहस खा चुका है,

प्राणि हो, पर प्राण से
वह जा चुका है।
तुम न खेलो ग्राम-सिंहों में भवानी !
विश्व की अभिमान मस्तानी जवानी !

५

ये न मग हैं तव
चरण की रेखियां हैं,
बलि दिशा की अमर
देखा—देखियां हैं
विश्व पर, पद से लिखे
कृति लेख हैं ये
धरा तीर्थों की दिशा
की मेख हैं ये।
प्राण-रेखा खींच दे, उठ बोल रानी,
री मरण के मोल की चढ़ती जवानी !

६

टूटता जुड़ता समय
'भूगोल' आया,
गोद में मणियां समेट
खगोल आया,
क्या जले बारूद ?
हिम के प्राण पाये !
क्या मिला ? जो प्रलय
के सपने न आये।

धरा ? यह तरबूज
है दो फांक कर दे,
चढ़ा दे स्वातन्त्र्य-प्रभु पर अमर पानी।
विश्व माने—तू जवानी है, जवानी !

७

लाल चेहरा है नहीं
फिर लाल किस के ?
लाल खून नहीं ?
अरे, कंकाल किसके ?
प्रेरणा सोयी कि
आटा, दाल किसके ?
सिर न चढ़ पाया
कि छापा-माल किसके ?
वेद की वाणी कि हो आकाश-वाणी,
धूल है जो जग नहीं पायी जवानी।

८

विश्व है असि का—
नहीं संकल्प का है;
हर प्रलय का कोण
काया-कल्प का है;
फूल गिरते, शूल
शिर ऊँचा लिये हैं;
रसों के अभिमान
को नीरस किए हैं !
खून हो जाए न तेरा देख, पानी,
मरण का त्योहार, जीवन की जवानी !

अमर राष्ट्र—

१

छोड़ चले, ले तेरी कुटिया, यह लुटिया डोरी ले अपनी,
फिर वह पापड़ नहीं बेलने, फिर वह माला पड़े न जपनी;
यह जागृति तेरी तू ले ले मुझको मेरा दे दे सपना,
तेरे शीतल सिंहासन से, सुखकर सौ युग ज्वाला तपना।

२

सूली का पथ ही सीखा हूँ, सुविधा सदा बचाता आया,
मैं बलि-पथ का अंगारा हूं—जीवन ज्वाल जगाता आया;
एक फूंक मेरा अभिमत है फूंक चलूं जिससे नभ जल थल,
मैं तो हूँ बलि-धारा पंथी, फेंक चुका कब का गंगा-जल!

३

इस चढ़ाव पर चढ़ न सकोगे, इस उतार से जा न सकोगे!
तो तुम मरने का घर ढूंढो, जीवन पथ अपना न सकोगे?
श्वेत केश? भाई होने को हैं ये श्वेत पुतलियाँ बाकी,
आया था इस घर एकाकी, जाने दो मुझको एकाकी!

४

अपना कृपा-दान एकत्रित कर लो, उससे जी बहला लें,
युग की होली मांग रही है, लाओ उसमें आग लगा दें;
मत बोलो वे रस की बातें, रस उसका जिसकी तरुणाई,
रस उसका जिसने सिर सौंपा, आगी लगा, भभूत रमाई!

५

जिस रस में कीड़े पड़ते हों उस रस पर विष हँस-हँस डालो,
आओ गले लगायें साजन, रेतो तीर, कमान संभालो;
हाय, राष्ट्र-मन्दिर में जाकर, तुमने पत्थर का प्रभु खोजा।
लगे मांगने जाकर रक्षा, और स्वर्ण-रूपे का बोझा?

६

मैं यह चला पत्थरों पर चढ़, मेरा दिलवर यहीं मिलेगा !
फूँक जला दें सोना-चाँदी तभी क्रान्ति का सुमन खिलेगा;
चट्टानें चिंघाड़ें हँस-हँस, सागर गरजे मस्ताना सा,
प्रलय राग अपना भी उसमें, गूँथ चले ताना-बाना सा।

७

बहुत हुई यह आँखमिचौनी, तुम्हें मुबारक यह वैतरनी,
मैं साँसों के डांड उठा कर, पार चला लेकर युग-तरनी;
मेरी आँखें, मातृभूमि से, नक्षत्रों तक खींचें रेखा,
मेरी पलक-पलक पर गिरता जग के उथल-पथल का लेखा।

८

मैं पहिला पत्थर मन्दिर का, अनजाना पथ जान रहा हूँ।
गड़ूं नींव में—, मेरे कन्धों पर मन्दिर अनुमान रहा हूँ !
मरण और सपनों में, होती है, मेरे घर होड़ा-होड़ी,
किसकी यह मरज़ी-नामरज़ी किस की यह कौड़ी-दो कौड़ी !

९

अमर राष्ट्र, उद्दण्ड राष्ट्र, उन्मुक्त राष्ट्र मेरी यह बोली,
यह 'सुधा' "समझौते" वाली मुझको भाती नहीं ठिठोली;
मैं न सहूँगा, मुकुट और सिंहासन ने वह मूंछ मरोरी,
जाने दे सिर लेकर मुझको ले सँभाल यह लोटा-डोरी !!

पुष्प की अभिलाषा—

चाह नहीं, मैं सुर-बाला के
गहनों में गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं, प्रेमी माला में
विंध प्यारी को ललचाऊँ,

चाह नहीं, सम्राटों के शव पर
हे हरि ! डाला जाऊँ,
चाह नहीं ! देवों के शिर पर
चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ।

मुझे तोड़ लेना वनमाली !
उस पथ में देना तुम फेंक,
मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने
जिस पथ जावें वीर अनेक ॥

Joginder Singh.
and of the resident
JAMMU

जयशंकरप्रसाद

करुणा-कुञ्ज—

क्लान्त हुआ सब अंग शिथिल क्यों वेष है
मुख पर श्रम-सीकर का भी उन्मेष है
भारी बोझा लाद लिया न सँभार है
छल-छालों से पैर छिले न उबार है

चले जा रहे वेग-भरे किस ओर को
मृग-मरीचिका तुम्हें दिखाती छोर को
किन्तु नहीं है पथिक ! वहां जल है नहीं
बालू के मैदान सिवा कुछ है नहीं

ज्वाला का यह ताप तुम्हें झुलसा रहा
मनों मुकुल मकरन्द-भरा कुम्हला रहा
उसके सिंचन-हेतु न यह उद्योग है
व्यर्थ परिश्रम करो न यह उपयोग है

कुसुम-वाहना प्रकृति मनोज्ञ बसन्त है
मलयज मारुत प्रेमभरा छविवन्त है
खिली कुसुम की कली अलीगण घूमते
मद-माते पिक-पुंज मञ्जरी चूमते

किन्तु तुम्हें विश्राम कहाँ है नाम को
केवल मोहित हुए लोभ से काम को
ग्रीष्मासन है बिछा तुम्हारे हृदय में
कुसुमाकर पर ध्यान नहीं इस समय में

अविरल आँसू-धार नेत्र से बह रहे
वर्षा-ऋतु का रूप नहीं तुम लख रहे

मेघ-वाहना पवन-मार्ग में विचरती
सुन्दर श्रम-लव-बिन्दु धरा को वितरती
तुम तो अविरत चले जा रहे हो कहीं
तुम्हें सुघर ये दृश्य दिखाते हैं नहीं
शरद-शर्वरी शिशिर-प्रभंजन-वेग में
चलना है अविराम तुम्हें उद्वेग में
भ्रम-कुहेलिका से दृग-पथ भी भ्रान्त है
है पग-पग पर ठोकर फिर नहीं शान्त है
व्याकुल होकर, चलते क्यों हो मार्ग में
छाया क्या है नहीं कहीं इस मार्ग में
त्रस्त पथिक, देखो करुणा विश्वेश की
खड़ी दिलाती तुम्हें याद हृदयेश की
शीतातप की भीति सता सकती नहीं
दुख तो उसका पता न पा सकता कहीं
श्रान्त शान्त पथिकों का जीवन-मूल है
इसका ध्यान मिटा देना सब भूल है
कुसुमित मधुमय जहाँ सुखद अलिपुञ्ज है
शान्त-हेतु वह देखो 'करुणा-कुञ्ज' है

किरण—

किरण ! तुम क्यों बिखरी हो आज,
रँगी हो तुम किसके अनुराग,
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान,
उड़ाती हो परमाणु पराग ॥१॥
धरा पर झुकी प्रार्थना-सदृश,
मधुर मुरली सी फिर भी मौन—

किसी अज्ञात विश्व की विकल—
वेदना-दूती सी तुम कौन ? ॥२॥

अरुण शिशु के मुख पर सविलास,
सुनहली लट घुँघराली कान्त,
नाचती हो जैसे तुम कौन ?—
उषा के अंचल में अश्रान्त ॥३॥

भला उस भोले मुख को छोड़,
और चूमोगी किसका भाल,
मनोहर यह कैसा है नृत्य
कौन देता है सम पर ताल ? ॥४॥

कोकनद मधु धारा सी तरल,
विश्व में बहती हो किस ओर ?
प्रकृति को देती परमानन्द
उठाकर सुन्दर सरस हिलोर ॥५॥

स्वर्ग के सूत्र सदृश तुम कौन
मिलाती हो उससे भूलोक ?
जोड़ती हो कैसा सम्बन्ध,
बना दोगी क्या विरज विशोक ! ॥६॥

सुदिन-मणि-वलय विभूषित उषा—
सुन्दरी के कर का संकेत,
कर रही हो तुम किसको मधुर,
किसे दिखलाती प्रेम-निकेत ॥७॥

चपल ! ठहरो कुछ लो विश्राम,
चल चुकी हो पथ शून्य अनन्त,
सुमन मन्दिर के खोलो द्वार
जगे फिर सोया वहाँ बसन्त ॥८॥

अहिंसा—

अपनी रक्षा करने में जो
चल जाय तुम्हारा कहीं अस्त्र;
वह तो कुछ समझ सकी हूँ मैं
हिंसक से रक्षा करे शस्त्र ॥१॥

पर जो निरीह जीकर भी कुछ
उपकारी होने में समर्थ;
वे क्यों न जियें, उपयोगी बन
इस का मैं समझ सकी न अर्थ !॥२॥

चमड़े उनके आवरण रहें
ऊनों से मेरा चले काम;
वे जीवित हों माँसल बनकर
हम अमृत दुहें वे दुग्ध धाम ॥३॥

वे द्रोह न करने के स्थल हैं
जो पाले जा सकते सहेतु;
पशु से यदि हम कुछ ऊँचे हैं
तो भव जलनिधि में बने सेतु ॥४॥

अशोक की चिन्ता—

जलता है यह जीवन-पतंग

जीवन कितना ? अति लघु क्षण,
ये शलभ पुञ्ज से कण-कण
तृष्णा वह अनल-शिखा बन-
दिखलाती रक्तिम यौवन।

जलने की क्यों न उठे उमंग ? ॥१॥

है ऊँचा आज मगध-शिर—
पदतल में विजित पड़ा गिर;
दूरागत क्रन्दन-ध्वनि फिर
क्यों गूँज रही है अस्थिर—
कर विजयी का अभिमान भंग ? ॥२॥

इन प्यासी तलवारों से,
इनकी पैनी धारों से,
निर्दयता की मारों से,
उन हिंसक हुँकारों से,
नत-मस्तक आज हुआ कलिंग। ॥३॥

यह सुख कैसा शासन का ?
शासन रे मानव मन का !
गिरि-भार बना सा तिनका
यह घटाटोप दो दिन का
फिर रवि शशि किरणों का प्रसंग ॥४॥

यह महा दम्भ का दानव—
पीकर अनंग का आसव—
कर चुका महा भीषण रव,
सुख दे प्राणी को मानव—
तज विजय-पराजय का कुढंग ॥५॥

संकेत कौन दिखलाती,
मुकुटों को सहज गिराती,
जयमाला सूखी जाती,
नश्वरता गीत सुनाती,
तब नहीं थिरकते हैं तुरंग ॥६॥

वैभव की यह मधुशाला,
जग पागल होने वाला,
अब गिरा—उठा मतवाला,
प्याले में फिर भी हाला,
यह क्षणिक चल रहा राग-रंग ॥७॥

काली काली अलकों में,
आलस, मद-नत पलकों में,
मणि मुक्ता की झलकों में,
सुख की प्यासी ललकों में,
देखा क्षण-भंगुर है तरंग ॥८॥

फिर निर्जन उत्सव-शाला,
नीरव नूपुर श्लथ माला,
सो जाती है मधुबाला,
सूखा लुढ़का है प्याला,
बजती वीणा न वहाँ मृदंग ॥९॥

इस नील विषाद गगन में-
सुख चपला-सा दुख-घन में,
चिर विरह नवीन मिलन में,
इस मरु-मरीचिका-वन में-
उलझा है चंचल मन-कुरंग ॥१०॥

आँसू कन-कन ले छल-छल-
सरिता भर रही दृगंचल,
सब अपने में हैं चंचल,
छूटे जाते सूने पल,
खाली न काल का है निषंग ॥११॥

वेदना विकल यह चेतन,
जड का पीडा से नर्तन,
लय सीमा में यह कम्पन,
अभिनयमय है परिवर्तन,
चल रहा यही कब से कुढंग ॥१२॥

करुणा-गाथा गाती है,
यह वायु बही जाती है,
ऊषा उदास आती है,
मुख पीला ले जाती है,
बन मधु पिंगल सन्ध्या-सुरंग ॥१३॥

आलोक किरन है आती,
रेशमी डोर खिच जाती,
दृग-पुतली कुछ नच पाती,
फिर तम-पट में छिप जाती,
कलरव कर सो जाते विहंग ॥१४॥

जब पल भर का है मिलना,
फिर चिर वियोग में झिलना,
एक ही प्रात है खिलना,
फिर सूख धूल में मिलना,
तब क्यों चटकीला सुमन-रंग ? ॥१५॥

संसृति के विक्षत पग रे !
यह चलती है डगमग रे !
अनुलेप सदृश तू लग रे !
मृदु दल बिखरे इस मग रे !
कर चके मधुर मधु-पान भृङ्ग ॥१६॥

भुनती वसुधा, तपते नग,
दुखिया है सारा अग-जग,
कंटक मिलते हैं प्रति पग,
जलती सिकता का यह मग,
बह जा बन करुणा की तरंग,
जलता है यह जीवन पतंग ॥१७॥

——

सियारामशरण गुप्त

शंख-नाद—

(१)

मृत्युञ्जय, इस घट में अपना,
कालकूट भर दे तू आज !
ओ मंगलमय, पूर्ण सदाशिव,
रुद्ररूप धर ले तू आज !

चिर-निद्रित भी जाग उठें हम,
कर दे तू ऐसी हुँकार !
मद-मत्तों का मद उतार दे,
दुर्धर, तेरा दण्ड-प्रहार।

हम अंधे भी देख सकें कुछ,
धधका दे प्रलय-ज्वाला;
उस में पड़ कर भस्म-शेष हो,
है जो जड़, जर्जर निस्सार।

यह मृत-शान्ति असह्य हो उठी,
छिन्न इसे कर दे तू आज,
मृत्युञ्जय, इस घट में अपना,
कालकूट भर दे तू आज !

(२)

ओ कठोर, तेरी कठोरता
कर दे हम को कुलिश-कठोर,
विचलित कर न सके कोई भी,
झंझा की दारुण झकझोर !

सिर के ऊपर के प्रहार सब
सुमन-समूह-समान झड़ें,
पैरों के नीचे के काँटे
मृदु मृणाल से जान पड़ें।

भय के दीप्तानल में धँसकर
उसे बुझा दें पैरों से;
छाती खोल खुले में अड़ कर
विपदाओं के साथ लड़ें।

तेरा सुदृढ कवच पहने हम
घूम सकें चाहे जिस ओर;
ओ कठोर! तेरी कठोरता,
कर दे हम को कुलिश-कठोर!

(३)

ओ कृतान्त हम को भी दे जा
नज कृतान्तता का कुछ अंश;
नई सृष्टि के नवोल्लास में
फूट पड़े तेरा विध्वंश।

नव भू-खण्ड अमृत के घट-सा
दे ऊपर की ओर उछाल,
सागर का अन्तस्तल मथ कर
तेरे विप्लव का भूचाल।

जीर्ण-शीर्णता के दुर्गों को,
कुसंस्कार के स्तूपों को
ढा दे एक साथ ही उठ कर,
दुर्जय तेरा क्रोध कराल।

कुछ भी मूल्य नहीं जीवन का
हो यदि उस के पास न ध्वंस,
ओ कृतान्त, हम को भी दे जा
निज कृतान्तता का कुछ अंश।

(४)

ओ भैरव, कवि की वाणी का
मृदु माधुर्य लजा दे आज,
बंशी के ओठों पर अपना
निर्भय शंख बजा दे आज!

नभ को छू कर दूर-दूर तक
गूज उठे तेरा जय-नाद;
घर के भीतर छिपे पड़े जो
बाहर निकल पड़ें साह्लाद।

तिमिर-सिन्धु में कूद, तैर कर
सुप्रभात से उठ आवें;
निखिल संकटों के भीतर भी
पावें तेरा पुण्य प्रसाद।

जीवन-रण के योग्य हमारा
निर्भय साज सजा दे आज;
ओ भैरव, कवि की वाणी में
निर्मम शंख बजा दे आज!

चोर—

कुछ हो आज बनूँगा चोर !
अभी अँधेरा है, प्राची में
नहीं अरुण-आभा की कोर;
हूँगा, हाँ हाँ हूँगा चोर !

पुर-वासी हैं निज-निज घर में
तरु-वासी हैं निज-निज घर में,
नीरवता है पथ-प्रान्तर में,
सुप्ति छा रही चारों ओर;
कुछ हो आज बनूँगा चोर !
सम्मुख ही तो है धन मेरा,
किसलय-मृदु ऊपर का घेरा;
लोभ हृदय में है बहुतेरा,
कर लूँ मैं निज निशि का भोर।
कुछ हो आज बनूँ मैं चोर !
जितना बने सभी मैं ढो लूँ;
हल्का हूँ कुछ भारी हो लूँ;
द्वार पर्णमय है, अब खोलूँ;
उठी अहा ! आमोद-हिलोर !
धन्य हुआ बन कर मैं चोर !
लुट कर भी खिल उठी, भली यह,
अच्छी धनवन्ती निकली यह !
कौन अरे—है कुसुमकली वह
और पवन मैं हूँ मुंहज़ोर;
नहीं नहीं, मैं तो हूँ चोर,
चोर, अहा सचमुच ही चोर !

यात्री—

(१)

कैसे पैर बढ़ाऊँ मैं ?
इस घन-गहन-विजन के भीतर
मार्ग कहाँ जो जाऊँ मैं ?
कुटिल कँटीले झंखाड़ों में
उत्तरीय उड़ कर मेरा
उलझ-उलझ जाता है, इसको
कहाँ-कहाँ सुलझाऊँ मैं ?
कहीं धँसी है धरा गर्त्त में,
कहीं चढ़ी है टीलों पर;
मुक्त विहग-सा उड़ जाऊँ जो
पंख कहाँ से लाऊँ मैं

(२)

पंख कहाँ से लाऊँ मैं।
अरे, पैर ही क्या कुछ कम हैं
क्यों न अभी बढ़ जाऊँ मैं ?
उत्तरीय का क्या, यह तनु भी
क्षतच्छिन्न हो जाने दूँ;
इन शत-शत काँटों में बिंधकर
लक्ष-लाभ निज पाऊँ मैं।
गह्वर-टीले इधर-उधर हैं
मुझ को पथ देने को ही
अपने इन पद-चिह्नों पर ही
नूतन मार्ग बनाऊँ मैं !
कुछ हो, पैर बढ़ाऊँ मैं !

दुर्वार—

"रुक जा रुक जा बन्धु, आज तू,
आज प्रकृति-गति है प्रतिकूल;
भर-भर कर हुँकार कोपना
झंझा उड़ा रही है धूल।"

अहा धूल ने भी गति धारी
शुष्क पत्र भी हैं नभचारी;
तज विलास-मन्थरता सारी
हुआ मृदुल मारुत वातूल।

सखे, रोक मत मुझे आज तू,
प्रकृति आज मेरे अनुकूल!

"रुक जा, रुक जा बन्धु, आज तू,
आज समय-गति है प्रतिकूल;
रुद्र व्योम घन-जटा खोल निज
लिये हुए है विद्युत-शूल।"

शूल अहा! यह चमक-चमक कर,
पड़ता है मेरे पथ-तम पर।
इतना भी कम क्या, यदि डग भर
बढ़ जाता हूं मैं भय-भूल?

सखे, रोक मत मुझे आज तू,
समय आज मेरे अनुकूल।

"रुक जा, रुक जा बन्धु आज तू,
ऋतु है यात्रा के प्रतिकूल;

जल ही जल सब ओर आज है
डूब गये हैं सब पथ-कूल।"

मेरे मग की खन्दक-खाई,
वर्षा समतल पर है लाई,
अहा! सन्तरण की बन आई,
कण्टक दे न सकेंगे शूल।

सखे, रोक मत मुझे आज तू,
सब कुछ है मेरे अनुकूल।

वियोगी हरि

सत्य वीर—

सुन्दर सत्य-सरोज सुचि बिगस्यौ धर्म-तड़ाग ।
सुरभित चहुँ हरिचन्द कौ जुग-जुग पुन्य-पराग ॥१॥
मृतरोहित पट-दान लै धार्‌यौ धर्म अमन्द ।
खड्ग-धार-ब्रत-धीर, धनि सत्य-बीर हरिचन्द ॥२॥
फूंकन देत न मृत सुवन, माँगत तिय-तनु-चीर ।
निरखि नृपति-सत-धर्म-धृति, धृतिहूँ भई अधीर ॥३॥
पद्मापतिपटपीत क्यों खस्यौ नीर-निधि-तीर ।
पतिहि फारि शैब्या दियौ निज-अंग-आधो चीर ॥४॥
बैंचि प्रिये, प्रिय पूतहूँ भयो डोम-गृह-दास ।
सत्यसंध हरिचन्द ! तूं सहज सुसत्य-प्रकास ॥५॥
जौ न जन्म हरिचन्द कौ होतो या जग माँह ।
जुग-जुग रहति असत्य की अमिट अँधेरी छाँह ॥६॥
इत गाँधी, उत सत्य दोउ मिले परस्पर चाहि ।
यह छाँडत नहिं ताहिं, त्यौं वह छाँडत नहिं याहि ॥७॥
धनि, तेरी तप-धीरता धनि, गुण-गण-गंभीर !
या कलि में गांधी ! तुहीं इक सत्याग्रह-वीर ॥८॥
नहि बिचल्यौ सतपंथ तें सहि असह्य दुख-द्वन्द ।
कलि में गाँधी रूप ह्वै पुनि प्रगस्यौ हरिचन्द ॥९॥

शूर और कादर—

सदय, विवेकी, सत्यव्रत, सुहृद लेखियतु शूर ।
अविवेकी, क्रोधी, कुटिल, कादर कहियतु क्रूर ॥१०॥
कूकर उदर खलायकैं, घर-घर चाटत चून ।
रँगे रहत सदखून सों नित नाहर-नाखून ॥११॥

शूर-चाह अनचाहहूँ देखिय अगम अथाह ।
कहा क्रूर-कादरनु की चाह और अनचाह ॥१२॥
करि कादर सों मित्रता कहा सारिहौ, मीत ।
शत्रु ताहुँ रण-शूर प्रति मङ्गल-मूर्ति पुनीत ॥१३॥
कहत कौन कायर तुम्हें, बल-सायर ! रण माहिं ।
भभरि भाजिबो पीठ दै सब के बस कौ नाहिं ॥१४॥
मति मन-मानिक सौंपियौं, कुटिल कादरनु हाथ ।
हैं वै ही सत जौहरी, नहिं जिन धर पै माथ ॥१५॥
कादर बीरनु संग मिलि, भलैं अलापहि राग ।
छिपत न अन्त बसन्त में, कैसेहुँ कोयल काग ॥१६॥
बृथा उभय-निरधार में बिनत-उधेरत बेद ।
खुलि जैहै वा दिन सबै, नकल-असल कौ भेद ॥ १७ ॥

पराधीन और स्वाधीन—

पराधीन केहि कामकौ, जो सुर-पति-सम होय ।
सतत सुखी स्वाधीन ही, धनि, जगतीतल कोय ॥१८॥
जौ अधीन, तौ छाँडियै स्वर्गहुँ बिभव-बिलास ।
जौपै हम स्वाधीन, तौ भलो नरक कौ बास ॥१९॥
पराधीन जौ जन, नहीं स्वर्ग नरक ता हेतु ।
पराधीन जौ जन नहीं, स्वर्ग नरक ता हेतु ॥२०॥

गुरु गोविन्दसिंह—

जय अकाल-आनन्द-भव नव मकरन्द-मलिन्द ।
शक्ति-साधना-सिद्धवर, असि-धर गुरु गोविन्द ॥२१॥
पराधीनता-सिंधु मधि डूबत हिन्दू हिन्द ।
तेरे कर पतवार अब, पतधर गुरु गोविन्द ॥२२॥

धर्म-धुरन्धर, कर्म-धर, बल-धर बखत-बलन्द ।
जयत धनुर्धर, तेग-धर, तेगबहादुर-नन्द ॥ २३ ॥
असि-व्रत धार्‌यौ धर्म पै, उमँगि उधार्‌यौ हिन्द ।
किये सिक्ख ते सिंह सब, धनि-धनि गुरु गोविंद ॥२४॥
दसवें गुरु के राज में रही हिन्द-पत-लाज ।
औरंगशाही पै गिरी वाहगुरु की गाज ॥ २५ ॥
रहती कहँ हिन्दून की आन बान अरु शान ।
ढाल न होती आनि जो गुरु गोविन्द-कृपान ॥ २६ ॥
संघ शक्ति-व्रत-मित्र, कै वृषगत बिप्लव-मित्र ।
कै पवित्र बलि-चित्र-पट गुरु गोविन्द-चरित्र ॥ २७ ॥
दिखी न दूजी जाति कहुँ, सिक्खन-सी मजबूत ।
तेगबहादुर-सो पिता, गुरु गोविन्द सो पूत ॥ २८ ॥

फूट—

फूट्‌यौ, पै टूट्‌यौ न जो, भयौ कौन अस मर्द ।
जुग के बिलगेहूँ कहूँ रही खेल में नर्द ॥ २९ ॥
राजपूत, सिख, मरहठे, नठे बुँदेल, बघेल ।
अरी फूट ! यह देस में रच्यौ कौन यह खेल ॥ ३० ॥
है जहँ 'आठ कनौजिया नौ चूल्हे' की रीति ।
तहाँ परस्पर प्रीति की कहा पढ़ावत नीति ॥ ३१ ॥

त्याग और आत्मानुभूति—

'त्याग-त्याग' कत बकत रे, राग-त्याग अति दूर ।
त्याग-तागही तें बँधे यती सती अरु सूर ॥ ३२ ॥
लेत आत्मा-अनुभूति-रस सूर सबल स्वाधीन ।
सके न करि कबहूँ कहूँ आतम-लाभ बलहीन ॥ ३३ ॥

बाल-विधवा—

जहाँ बाल-बिधवा हियें रहे धँधकि अंगार।
सुख-सीतलता कौ तहाँ करिहौ किमि संचार ॥ ३४ ॥
भलैं सुधा सींचौ तहाँ, फल न लागिहै कोय।
जहाँ बाल-बिधवान कौ अश्रु-पात नित होय ॥ ३५ ॥
सुर-तरुहूँ के फरन की मति कीजौ उत आस।
जाय बाल-बिधवा निकसि जित ह्वै भरति उसाँस ॥ ३६ ॥

विविध—

बल साँचो निज बाहु-बल, सीस दान सतदान।
त्यों साँचो सुठि ध्यान इक पारथ-सारथि ध्यान ॥ ३७ ॥

बिना मान तजि दीजियौ स्वर्गहुँ सुकृत-समेत।
रहौ मान तौ कीजियौ नरकहुँ नित्य निकेत ॥ ३८ ॥

फरति न हिम्मत खेत में, बहति न असि-व्रत-धार।
बल-बिक्रम की बोरियाँ बिकति न हाट-बजार ॥ ३९ ॥

भीरु छिपावत जीव ज्यौं, कृपण छिपावतु दाम।
सूर छिपावत शक्ति त्यौं, चतुर छिपावतु नाम ॥ ४० ॥

रचि-रचि कोरी कल्पना बहुत जल्प ना, मूढ !
सहज सती अरु सूर कौ गति-रहस्य अति गूढ ॥ ४१ ॥

मतवारे सब ह्वै रहे मतवारे मत माहिं।
सिर उतारि सतधर्म पै कोउ चढ़ावत नाहिं ॥ ४२ ॥

तजि देती जौ पै कहूँ, कोइल काग-कुठौर।
तौ होती पच्छीनु में साँचेहुँ तैं सिरमौर ॥ ४३ ॥

'हम गंगोदक, हम गगन, हम दीपक, हम भान।'
यही तुम्हैं लै बूड़िहै कोरो-कुल-अभिमान ॥ ४४ ॥

चूसि गरीबनु कौ रकत करत इन्द्र-सम भोग ।
तउ 'गरीब-परवर' उन्हें कहत अहो, ये लोग ! ॥ ४५ ॥

धर्म-निरत-सँग द्वेष कै कहाँ बचैहै प्रान ।
दुर्वासा-हरि-चक्र कौ गयौ भूल उपखान ॥ ४६ ॥

पावसहीं में धनुष अब, सरित-तीरही तीर ।
रोदनहीं में लाल दृग, नौरसहीं में बीर ॥ ४७ ॥

नैननि नित किन राखिये, तिनकी पायन धूरि ।
पूरि पैज जे मरद की भये युद्ध-मधि चूरि ॥ ४८ ॥

भर्यौ रक्त नहि, जिन दृगनि देखि आत्म-अपमान ।
क्यों न बिधे तिन में, बिधे ! शूल विषम बिष-बान ॥४६ ॥

बोय सीस सींच्यौ सदा हृदय-रक्त रण-खेत ।
बीर कृषक कीरति लही करी मही जस-सेत ॥ ५० ॥

बालकृष्ण शर्मा नवीन

सिरजन की ललकारें मेरी—

१

मेरे हिय-मन्थन से निकला
यह रस रुचिर पुरातन चिर नव,
आज नए अधिकरणों में मैं
जग को देता हूँ यह आसव;

कहता हूँ जब तक न बनेगा
यह नर नारायण का प्रतिनिधि,
तब तक व्यर्थ सिद्ध होगी यह
जग-मोक्षकारी सब गति-विधि;

कितने वरदानों को हम ने.
भ्रष्ट किया, क्या कभी विचारा ?
कितनी विधियाँ हम ले डूबे
साक्षी है इतिहास हमारा ।

२

जब तक वैयक्तिक सामाजिक
आचरणों में भेद रहेगा,—
जब तक व्यष्टि-समष्टि धर्म का
स्रोत अलग से यहाँ बहेगा।

अरे सत्य-शान्ति की सरणि जब
तक न विश्व व्यापिनी बनेगी,
जब तक न यह नदी छोटी जग-
प्लावक मन्दाकिनी बनेगी,

जब तक बुद्धि और नैतिक बल
गलबाँहियाँ डाले न चलेंगे,
तब तक ईति-भीति के दानव
मानवता को सतत खलेंगे।

३

संस्कृति की पूर्णता कहां है ?
क्या है चरम सभ्यता नर की ?
भौतिक सम्पन्नता मात्र ही
शोभा नहीं मनुज के घर की;
मनोविकार-दमन ही केवल
माप-दण्ड है चिर-संस्कृति का,
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह भय
शाश्वत रिपुदल है संसृति का;
जब तक अवश रहेंगे ये रिपु
तब तक कहाँ नवल युग जग में ?
बन्धन ही बन्धन उलझेंगे
इस मानवता के पग-पग में,

४

हिंसा और अहिंसा दोनों
प्रकृति-सिद्ध गुण हैं मानव के,
विष, मधु, दोनों ही निकले हैं
मन्थन-सार हृदय-अर्णव के;
एक राक्षसी क्रीड़ा है तो
दूजा है देवत्व दिवाकर,
एक निम्न गति प्रेरक है तो
बना अन्य सोपान ऊर्ध्वचर;

हमें खींचना है मानव को
ज़ोर लगा नीचे से ऊपर,
क्योंकि ऊर्ध्वगति में ही पाता
यह नर निज स्वरूप चिर-सुन्दर।

परमात्मा

५

हिंसा में विचार-मन्थन का
समय नहीं, अभ्यास नहीं है,
हिंसा में सान्तता भरी है,
वाँ, अनन्त अवकाश नहीं है;

बिना सदाशय-मय प्रणोदना
के न समुन्नत होगा मानव,
कैसे हिंसा से हो सकता
पराभूत जन-हिय का दानव?

हिंसा से वह और भड़क कर
प्रतिहिंसक बन तन जाएगा,
बिना शांति के कैसे उसका
हिय-परिवर्तन आ पाएगा।

प्रियतम, तव अंग-राग—

गमक उठा है स्मृति में, प्रियतम तव अंग-राग,
नासा में लहर रहा वह तव मादक पराग।

१

भेजी है क्या तुमने यह रसमय निज सुगन्ध;
अनिल-लहर लाई है परिरम्भण-गन्ध मन्द;

मम गत आया सम्मुख, तोड़ कठिन काल-बन्ध;
जाग उठा है फिर से मेरा विगतानुराग;
प्रियतम, तव अंग-राग !

२

कोई इक गन्ध-लहर, कोई मृदु एक तान,
कोई-सी एक झलक, मन की कोई रुझान,
कर देती है क्षण में अति गत को वर्त्तमान,
मानों संवेदन है स्मरण-सुमन-माल ताग;
प्रियतम, तव अंग-राग !

३

शब्द-स्पर्श-रूप-गन्ध-रस-वश है क्या जीवन ?
संवेदन-पुञ्ज-रूप हैं क्या हम सब जग-जन ?
अमल अतीन्द्रियता है क्या केवल भ्रम, साजन ?
अपनी सेन्द्रियता क्या मनुज सकेगा न त्याग ?
प्रियतम, तव अंग-राग !

४

अन्तर में जलता है जो यह चेतना-दीप,
जिसकी ऊष्मा से है कुसुमित उपकरण-नीप,
सेन्द्रियता कब आई उस दीपक के समीप ?
उस निर्गुण का गुण है पूर्ण मुक्ति, चिर विराग !
प्रियतम, तव अंग-राग !

५

प्रियतम, तव अंग-गंध, जो मम संस्मरण बनी,
इन नासा रन्ध्रों में उमड़ी है अमिय-सनी,
आई है आज त्याग वह सेन्द्रियता अपनी;
केवल तव ध्यान आज सोते से उठा जाग !
प्रियतम, तव अंग-राग !

ढरक-ढरक मत गिर, रे दृग-जल !

ढरक-ढरक मत गिर, रे दृग-जल,
अपनी अंतर्हित पीडा को मत प्रकटा रे, तू यों पल-पल;
ढरक-ढरक मत गिर, रे दृग-जल !

१

जाने कितने कृत-अकृतों की संचित हैं हियतल में स्मृतियाँ,
मन पर उभरी हैं कितनी ही असंक्रमित ये जीवन-सृतियाँ;
किन्तु आज अनुताप रूप धर, वे सब स्मरण वहें क्यों गल-गल ?
ढरक-ढरक मत, गिर, रे दृग-जल !

२

उझक-उझक उठते हैं हिय में इस जीवन के सब गत अवसर,
उद्वेलित कर ही देते हैं स्मरण-मीन मानव का मन-सर;
पर, ओ मानस के जल, मत बह नयन प्रणाली से तू छल-छल,
ढरक-ढरक मत गिर, रे दृग-जल !

३

अरी आह, तू वाष्प बनी रह, तरल-नयन-जल मत बन, मत बन,
कौन लाभ होगा यदि भींगे मानव के लोचन औ' तन मन ?
गिरकर माटी में मिलने को होती है क्यों इतनी बेकल ?
री क्यों बनती है तू दृग-जल !

४

क्यों अनुताप ? विषाद वृथा क्यों ? क्यों स्मरणों की खैंचा-तानी ?
समझ बूझकर भी, हे मानव, अब फिर यह कैसी नादानी ?
जाने दो यदि चले गए हैं वे दिन, प्रहर, निमिष वे चंचल।
ढरक-ढरक मत गिर, रे दृग-जल !

५

अच्छा होता, यदि यों होता !! पर, वह गत तो है अपुनर्भव,
गत यदि पुनरावर्त्ती होता, तो हो जाता जीवन नित नव,
किन्तु नहीं हो सकता परिणत वर्त्तमान में लुप्त विगत कल !
ढरक-ढरक मत गिर, रे दृग-जल !

६

जीवन भी है एक पहेली, जो बीता उसको जाने दे,
हो कटिबद्ध, भविष्य शेष है जो कुछ, तू उसको आने दे !
उसको ऐसा काट कि जिससे शीतल हो तव दग्ध हृदय-तल,
ढरक-ढरक मत गिर, रे दृग-जल !

७

अपनी रहनी रह निर्मम सा; अपना पथ पहचान, हठीले,
ललक लालसा से मत कर तू अपने लोचन गीले-गीले !
लुंज-पुंज तू रहा अब तलक, अब भर हिय में सार लौह-बल !
अब मत ढरका अपना दृग-जल !

८

है कर्त्तव्य कठोर, और है जीवन-पथ भी क्षुर-धारा-सा;
कर ले प्राप्त आज अपनापन, अब मत फिर मारा-मारा-सा;
रे नर, तू बन जा नारायण, मत हो कातर, मत हो विह्वल !!
मत ढरका तू अपना दृग-जल !

जूठे पत्ते—

क्या देखा है तुमने नर को, नर के आगे हाथ पसारे ?
क्या देखे हैं तुमने उसकी आंखों में खारे फव्वारे ?
देखे हैं फिर भी कहते हो, कि तुम नहीं हो विप्लवकारी।
तब तो तुम पत्थर हो या हो महा भयंकर अत्याचारी।

लपक चाटते जूठे पत्ते जिस दिन देखा मैंने नर को,
उस दिन सोचा क्यों न लगा दें, आज आग इस दुनियाँ भर को।
यह भी सोचा, क्यों न टेंटुआ घोंटा जाय स्वयं जगपति का,
जिसने अपने ही स्वरूप को रूप दिया इस घृणित विकृति का।

जगपति कहां ? अरे सदियों से वह तो हुआ राख की ढेरी,
वरना समता-संस्थापन में लग जाती क्या इतनी देरी ?
छोड़ आसरा अलख शक्ति का, रे नर, स्वयं जगतपति तू है,
तू गर जूठे पत्ते चाटे तो तुझ पर लानत है, थू है।

कैसा बना रूप यह तेरा, घृणित, दलित बीभत्स, भयंकर,
नहीं याद क्या तुझ को ? तू है चिर सुन्दर 'नवीन' प्रलयंकर।
भिक्षा-पात्र फेंक हाथों से, तेरे स्नायु बड़े बलशाली,
अभी उठेगा प्रलय नींद से जरा बजा तू अपनी ताली।

ओ भिखमंगे अरे पतित तू, ओ मजलूम अरे चिर-दोहित
तू अखण्ड भण्डार शक्ति का जाग अरे निद्रा-संमोहित।
प्राणों को तड़पाने वाली, हुंकारों से जल-थल भर दे,
अनाचार के अम्बारों में अपना ज्वलित पलीता भर दे।

भूखा देख तुझे गर उमड़े, आँसू नयनों में जग जन के,
तो तू कह दे नहीं चाहियें, हमको रोने वाले जनखे।
तेरी भूख जहालत तेरी यदि न उभाड़ सके क्रोधानल
तो फिर समझूंगा कि हो गई, सारी दुनियाँ कायर निर्बल !

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला

उद्‌बोधन—

गरज गरज घन अन्धकार में गा अपने संगीत,
बन्धु, वे बाधा-बन्ध-विहीन,
आँखों में नव जीवन की तू अंजन लगा पुनीत,
बिखर झर जाने दे प्राचीन।

बार बार उर की वीणा में कर निष्ठुर झंकार
उठा तू भैरव निर्जर राग,
बहा उसी स्वर में सदियों का दारुण हाहाकार
संचरित कर नूतन अनुराग।

बहता अन्ध प्रभंजन ज्यों, यह त्योंही स्वर-प्रवाह
मचल कर दे चंचल आकाश,
उड़ा उड़ा कर पीले पल्लव, करे सुकोमल राह,
तरुण-तरु; भर प्रसून की प्यास।

काँपे पुनर्वार पृथ्वी शाखा-कर-परिणय-माल,
सुगन्धित हो रे फिर आकाश,
पुनर्वार गायें नूतन स्वर, नव कर से दे ताल,
चतुर्दिक् छा जाये विश्वास।

मन्द्र उठा तू बन्द-बन्द पर जलने वाली तान,
विश्व की नश्वरता कर नष्ट,
जीर्ण-शीर्ण जो, दीर्ण धरा में प्राप्त करे अवसान,
रहे अवशिष्ट सत्य जो स्पष्ट।

ताल-ताल से रे सदियों के जकड़े हृदय-कपाट,
खोल दे कर कर-कठिन प्रहार,

आये अभ्यन्तर संयत चरणों में नव्य विराट,
करे दर्शन, पाये आभार ।

छोड़ छोड़ दे शंकाएँ, रे निर्झर-गर्जित-वीर !
उठा केवल निर्मल निर्घोष;
देख सामने, बना अचल उपलों को उत्पल, धीर !
प्राप्त कर फिर नीरव सन्तोष !
भर उद्दाम वेग से बाधाहर तू कर्कश प्राण,
दूर कर दे दुर्बल विश्वास,
किरणों की गति से आ, आ तू, गा तू गौरव-गान,
एक कर दे पृथ्वी आकाश !

विधवा—

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की विधवा है ।
षड् ऋतुओं का शृङ्गार,
कुसुमित कानन में नीरव-पद-संचार,
अमर कल्पना में स्वच्छन्द विहार—
व्यथा की भूली हुई कथा है,
उसका एक स्वप्न अथवा है ।
उसके मधु-सुहाग का दर्पण
जिसमें देखा था उसने
बस एक बार, बिम्बित अपना जीवन-धन,

अबल हाथों का एक सहारा—
लक्ष्य जीवन का प्यारा—वह ध्रुवतारा—
दूर हुआ वह बहा रहा है
उस अनन्त पथ से करुणा की धारा।
है करुणा रस से पुलकित इसकी आँखें,
देखा तो भीगीं मन-मधुकर की पाँखें;
मृदु रसावेश में निकला जो गुञ्जार
वह और न था कुछ, था बस हाहाकार!
उस करुणा की सरिता के मलिन पुलिन पर
लघु टूटी हुई कुटी का मौन बढ़ा कर,
अति छिन्न हुए भीगे अञ्चल में मन को—
दुख-रूखे सूखे अधर-त्रस्त चितवन को
वह दुनिया की नज़रों से दूर बचा कर,
रोती है अस्फुट स्वर में;
दुःख सुनता है आकाश धीर—
निश्चल समीर,
सरिता की वे लहरें भी ठहर-ठहर कर।
कौन उसको धीरज दे सके?
दुःख का भार कौन ले सके?
यह दुःख वह जिसका नहीं कुछ छोर है,
दैव! अत्याचार कैसा घोर और कठोर है!
क्या कभी पोंछे किसी के अश्रुजल?
या किया करते रहे सब को विकल?
ओस-कण-सा पल्लवों से भर गया
जो अश्रु, भारत का उसी से सर गया।

महत्त्वाकांक्षा—

नर-जीवन के स्वार्थ सकल
बलि हों तेरे चरणों पर, माँ,
मेरे श्रम-सञ्चित सब फल।
जीवन के रथ पर चढ़ कर,
सदा मृत्यु-पथ पर बढ़ कर,
महाकाल के खरतर शर सह
सकूँ, मुझे तू कर दृढ़तर;
जागे मेरे उर में तेरी
मूर्ति अश्रुजल-धौत विमल,
दृग-जल से पा बल, बलि कर दूँ
जननि, जन्म-श्रम-संचित फल।
बाधाएँ आयें तन पर,
देखूँ तुझे, नयन-मन भर,
मुझे देख तू सजल दृगों से
अपलक, उर के शतदल पर;
खेद युक्त अपना तन दूँगा,
मुक्त करूंगा तुझे अटल,
तेरे चरणों पर देकर बलि
सकल श्रेय-श्रम-सञ्चित फल।

क्या गाऊँ—

क्या गाऊँ? माँ? क्या गाऊँ?
गूँज रही हैं जहाँ राग रागिनियाँ,
गाती हैं किन्नरियाँ—कितनी परियाँ—
कितनी पञ्चदशी कामिनियाँ,

वहाँ एक यह लेकर वीणा दीन
तन्त्री-क्षीण,—नहीं—जिसमें कोई झंकार नवीन,
रुद्ध कण्ठ का राग अधूरा कैसे तुझे सुनाऊँ?—
माँ! क्या गाऊँ?

छाया है मन्दिर में तेरे यह कितना अनुराग!
चढ़ते हैं चरणों पर कितने फूल
मृदु-दल, सरस-पराग;
गन्ध-मोद-मद पीकर मन्द समीर
शिथिल चरण जब कभी बढ़ाती आती,
सजे हुए बजते उसके अधीर नूपुर—मञ्जीर!
वहाँ एक निर्गन्ध कुसुम उपहार,
नहीं कहीं जिसमें पराग सञ्चार सुरभि—संसार,
कैसे भला चढ़ाऊँ?—
माँ, क्या गाऊँ?

अभिलाषा—

वह कितना सुख जब मैं-केवल,
जीवन-जीवन से बँधा सुफल!
यदि बनूँ किसी चित्र का साज
उसकी रक्षा के लिए, आज
अक्षर, क्षर होता हुआ, व्याज,
मैं न बन सकूँगा यज्ञ-शकल—
जीवन—जीवन से मिला सुफल!
देखेगा मुझे न कोई फिर,
रे, वे छवि के दर्शक अस्थिर,

मैं साज रहूँगा, अन्त स्थविर;
झर जाऊँगा, फिर निःसम्बल—
जीवन-जीवन से भिन्न, विफल !
मैं प्रवहमान यदि बनूँ सलिल,
प्राण-प्राण के रंग मिलें अमिल,
छवि-छवि अंकित हो खुलें, अखिल
जीवन का रस मैं बनूँ विमल—
जीवन-जीवन में मिला सुफल !

Panjabi Sahitya Sabha ... will present a varied programme based on Panjabi Folk songs on Sunday at 7 P.M in New Market on 14 Aug 60

You are ...

at new market on Sunday at 7 P.M. on 14 Aug 60.

उदयशंकर भट्ट

अध्यात्महीन जीवन—

यह 'अध्यात्मवाद' नीरस के
जीवन की है मंजु कहानी,
जहां ईश्वर के बल पर नर
करता घर जानी मनमानी ॥ १ ॥

पूर्व जन्म की पूर्व कर्म की
उलझन में जन को भटकाता,
आलस भोग और कर्मों की
दलदल फैला उसे गिराता ॥ २ ॥

गिरे हुए ही कुछ जन्में हैं
वे उठ न सके, उठ न सकेंगे,
वे परवश हैं पूर्व-कर्म-वश
भोगेंगे दुःख छुट न सकेंगे ॥ ३ ॥

वह पीड़ित है, व्यथित दुखी है
उसने शैशव से दुख देखा,
उसे बचा सकता कब कोई
जब कि भाग्य में ऐसी रेखा ॥ ४ ॥

शत्रु अकारण दुख दे रहा
लूट रहा है, मार रहा है,
औ' न्यायी प्रभु देख रहा है
पर पद-पद पर हार रहा है ॥ ५ ॥

कुछ न कर सका पीड़ित के प्रति
कुछ न किया है अब तक उसने,
कुछ न करेगा आगे भी वह
निर्बल को देगा यों चूसने ॥ ६ ॥

भूखों मरता है वह बालक
सब कुछ होते हुए यहाँ पर,
कौन पाप था, कौन कर्म था
बतलाया न कभी भी आकर ॥ ७ ॥

यह 'अध्यात्म' हीन जीवन है
यही ढोंग है, आडम्बर है,
यहाँ न भूतल है, जल ही है
केवल उसका स्वर ही स्वर है ॥ ८ ॥

परिवर्तन —

मैं देख रहा हूँ परिवर्तन, जाने परिवर्तन क्या होगा ?
जन प्रति पल बढ़ता जाता है,
नव जीवन गढ़ता जाता है,
शूलों की तीखी नोकों पर—
फूलों को जड़ता जाता है;
पर फूल बिखरते मुरझा कर—मुरझाया मधुवन क्या होगा ? ॥१॥
दिन-रात बदलते जाते हैं,
विश्वास बदलते जाते हैं,
पल-पल में मानव के स्वर से
अभिशाप बदलते जाते हैं;
इस उथल-पुथल में पल-पल की—मानव-संवर्धन क्या होगा ? ॥२॥

कवि स्वयं पुकार रहा हलचल,
विध्वंस उठ रहा है जल-थल,
शृङ्गार फूल का स्वयं छोड़—
मानव मानव के हित चंचल;
पर पीता अवश घृणा का विष, विष-मानव का मन क्या होगा? ॥४॥
फट-फट कर बादल घिर जाते,
जुड़ते-जुड़ते मन फिर जाते,
विश्वास नये उठते-उठते—
टकराते और बिखर जाते;
जीवन की जगह मरण-धन का यह नृत्य चिरंतन क्या होगा? ॥४॥
तुम कर से निज कर काट रहे,
अपना ही लोहू चाट रहे,
अपने हाथों से कबर खोद—
अपने शरीर को पाट रहे;
हे ईश्वर-सुत, इससे बढ़-चढ़— जाने पागलपन क्या होगा? ॥५॥
अनुभव-विवेक दो पहियों पर,
चलता समाज का रथ मृदुतर,
दोनों हो एक बढ़ें आगे,
हों एक साथ गति-यति पथ पर;
इससे बढ़कर फिर और भला, मानव-संजीवन क्या होगा?
मैं देख रहा हूँ परिवर्तन, जाने परिवर्तन क्या होगा? ॥६॥

मैं पंथी पृथ्वी सागर का—

(१)

मैं पंथी पृथ्वी सागर का लक्ष्य यहाँ मँझधार नहीं;
रुकना कहीं बीच में मेरा ध्येय नहीं, व्यापार नहीं।

मैं संघर्षों का प्राणी हूँ भय से लूँ भिक्षा कैसी ?
मरण अगर त्यौहार न हो तो जीवन की दीक्षा कैसी ?
उमँग-उमँग पड़ती उमंग जो वह बलिदान पुकार रही;
पृथ्वी में तल्लीन बीज की होती है क्या हार कहीं ?

वह जीवन है, वह जीवन है—तुम उसका सम्मान करो,
अणु-अणु में गति, शक्ति भरी है पलपल का आह्वान करो;
सूख चला आँखों का पानी युग-युग से रोते-रोते,
शीतल आँसू गैस हो चले जलन भरी पीड़ा ढोते;

रोक सके अप्रतिहत नौका ऐसा पारावार नहीं;
मैं·पन्थी पृथ्वी सागर का लक्ष्य यहाँ मँझधार नहीं।

(२)

देह जलाकर, भूख भुलाकर घुल-घुल कर जीना मुश्किल,
सदा ताकते रहकर ऊपर अपना खूँ पीना मुश्किल;
कभी न बरसा है बादल से जीवनदाता अमृत सलिल,
अमृत सलिल की ही आशा में बैठे रहना है मुश्किल;
विष को अमृत बना देगा तू अरे कीमियागर साथी,
भू को स्वर्ग बना देगा तू स्वर्णनदी रस बरसाती;
सोना उगल रही है पृथ्वी पृथ्वी को लंका कर दे,
यदि समूल ही वर्गवाद को एक बार नंगा कर दे;

प्राणों में क्या प्रलय विकम्पित उठाता है वह ज्वार नहीं,
मैं पन्थी पृथ्वी सागर का लक्ष्य यहाँ मँझधार नहीं।

(३)

रोक सकेगा कौन उमँगते दीपक पर परवानों को,
फूलों पर मंडराने वाले भौरों के मधुदानों को;

मैं बलिदान बुला लाया हूँ लक्ष्य न टूटे, प्राण गलें,
लाशों के ऊपर जीवन के अभिनव दीप उदान जलें;
संध्या आती है आने दो अमा बढ़े, तारक डूबें,
अगणित उल्काओं के क्षण-क्षण जीवन संवाहक डूबें,
फिर भी पथ अवरुद्ध न होगा जहाँ पग पड़ें पन्थ बने,
मानव पशुता से ऊँचा उठ मानव राग वसन्त बने;
नई सृष्टि में नये कोष में वाक्यावलि साकार यही;
मैं पन्थी पृथ्वी सागर का, लक्ष्य यहाँ मँझधार नहीं।

(४)

कभी मरण के तत्त्व उबलकर युद्ध पिशाच जिला जाते,
जीवन के अभिशाप समूचे बुझती आँच हिला जाते;
मस्तक के विकार स्वार्थों की आँखों को धुंधला देते,
विश्वंभर की मानवता को ये आकर झुठला देते;
किन्तु मुझे क्या, मैं तो अपना ध्येय एक दिन पाऊँगा,
मरण रहे पर आह न होगी राह एक दिन पाऊँगा;
मैं देवत्व नहीं चाहूँगा राक्षसत्व की बात नहीं,
मेरी मानवता में होगी दुःखों की बरसात नहीं;
मेरा एक सुनिश्चित पथ है भूत भविष्य विकार नहीं;
मैं पन्थी पृथ्वी सागर का, लक्ष्य यहाँ मँझधार नहीं।

(५)

दुख बरसात बुलाओगे तुम शरदाकाश बना दूँगा,
जीवन के प्रत्येक त्रास को मैं मधुमास बना दूँगा;
तुम आँखों में प्रलय वह्नि भर अस्तव्यस्त करो जग को,
मैं पुकार कर यही कहूँगा तुम मत त्रस्त करो जग को;

जाति, देश की सीमाओं में जीवन नहीं विकास नहीं,
मुझे धर्म की विकट रूढि में बँधने का अभ्यास नहीं;
हम सब एक, एक है जीवन, बान्धव हैं भाई-भाई,
आत्मनाश की यह कायरता तुम में जाने क्यों आई ?

अरे, तुम्हारी ही प्रतिछाया देखो दूर पुकार रही;
मैं पन्थी पृथ्वी सागर का, लक्ष्य यहाँ मँझधार नहीं;
रुकना कहीं बीच में मेरा ध्येय नहीं, व्यापार नहीं।

मांसल प्राण मृत्यु के साथी—

(१)

मांसल प्राण मृत्यु के साथी, मुझे वज्र के प्राण चाहियें,
युद्ध चाहिए संघर्षों से जीने का अभिमान चाहिए !

आने दो जीवन के पथ में हड़कम्पी अड़चन आने दो,
शूलावृत कण कण से मेरा रुधिर-क्लिन्न तन भर जाने दो;
बढ़ने दो सागर की लहरें बढ़ने दो, तट पी जाने दो,
और अमा के अन्धकार में मेरा स्वर्ग बिखर जाने दो;
मैं संहारिणी लहरों से लड़ दुख का सागर पार करूँगा,
मैं अदम्य ऊर्जस्व प्राण से क्षमता का विस्तार करूँगा;

स्वयं स्वर्ग का निर्माता मैं मुझको अपना ज्ञान चाहिये !
मांसल प्राण मृत्यु के साथी मुझे वज्र के प्राण चाहियें !

(२)

चलने वाले नहीं देखते तूफानों का अन्त कहाँ है,
चलने वाले नहीं देखते मेरे ध्रुव का पन्थ कहाँ है;
फट जाते हैं मेघ गगन के जब रवि का घर्घर रथ चलता,
इति में चलने वालों की गति में अथ का अस्तित्व मचलता;

पैरों के बोझिल तलुओं से प्रतिपद चिह्न पंथ बन जाता,
चरण-चरण के निर्माणों में अविनाशी बसन्त बन आता;
केवल जन-कल्याण-कामना का मुझ को वरदान चाहिये,
मांसल प्राण मृत्यु के साथी मुझे वज्र के प्राण चाहियें।

(३)

विश्व विजयिनी महाशक्ति के मुझ में दिव्यांगार छिपे हैं,
मुझ में मानवता के अभिनव वरदायी शृङ्गार छिपे हैं;
मेरे चरणों की गति में ही मेरा देव—विधान छिपा है,
मेरे इंगित में जल थल की इति-अथ का निर्माण छिपा है;
मेरी इच्छाओं का तरु उग धर्म बन गया, पाप बन गया,
मेरा युग-पौरुष ही मेरा स्वर्ग बना, अभिशाप बन गया;
मूर्च्छित प्राण जगत् में मुझको नव संजीवन दान चाहिये!
मांसल प्राण मृत्यु के साथी मुझे वज्र के प्राण चाहियें!!

सुमित्रानन्दन पन्त

छाया—

कहो कौन हो दमयन्ती-सी
तुम तरु के नीचे सोई?
हाय तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि! नल-सा निष्ठुर कोई! ॥ १ ॥

पीले पत्रों की शय्या पर
तुम विरक्ति-सी, मूर्छा-सी,
विजन-विपिन में कौन पड़ी हो
विरह-मलिन दुख-विधुरा-सी? ॥ २ ॥

तुम पथ-श्रान्ता द्रुपद-सुता-सी
कौन छिपी हो अलि! अज्ञात,
तुहिन-अश्रुओं से निज गिनती
चौदह दुखद-वर्ष दिन रात? ॥ ३ ॥

पछतावे की परछाँई-सी
तुम भू पर छाई हो कौन?
दुर्बलता-सी, अँगड़ाई-सी,
अपराधी-सी भय से मौन! ॥ ४ ॥

किस रहस्यमय अभिनय की तुम,
सजनि! यवनिका हो सुकुमार,
इस अभेद्य पट के भीतर है
किस विचित्रता का संसार? ॥ ५ ॥

निर्जनता के मानस पट पर
बार बार भर ठण्डी साँस,
क्या तुम छिपकर क्रूर-काल का
लिखती हो अकरुण इतिहास ? ॥ ६ ॥

सखि ! भिखारिणी-सी तुम पथ पर,
फैला कर अपना अञ्चल,
सूखे पातों ही को पा क्या
प्रमुदित रहती हो प्रतिपल ? ॥ ७ ॥

कभी लोभ-सी लम्बी होकर,
कभी तृप्ति-सी हो फिर पीन,
क्या संसृति की अचिर-भूति तुम
सजनि ! नापती हो स्थिति-हीन ? ॥ ८ ॥

दिनकर-कुल में दिव्य जन्म पा,
बढ़ कर नित तरुवर के संग,
मुरझे पत्रों की साड़ी से,
ढक कर अपने कोमल अंग; ॥ ९ ॥

सदुपदेश सुमनों से तरु के
गूँथ हृदय का सुरभित हार,
पर-सेवा-रत रहती हो तुम,
हरती नित पथ-श्रान्ति अपार ॥ १० ॥

चूर्ण शिथिलता-सी अँगड़ा कर
होने दो अपने में लीन,
पर-पीड़ा से पीड़ित होना
मुझे सिखा दो कर मद-हीन ॥ ११ ॥

सृष्टि—

मिट्टी का गहरा अन्धकार,
डूबा है उसमें एक बीज,—
वह खो न गया, मिट्टी न बना
कोदों, सरसों से क्षुद्र चीज़ !

उस छोटे उर में छिपे हुए
हैं डाल-पात औ' स्कन्ध-मूल,
गहरी हरीतिमा की संसृति
बहु रूप-रंग, फल और फूल !

वह है मुट्ठी में बन्द किए
वट के पादप का महाकार,
संसार एक ! आश्चर्य एक !
वह एक बूंद, सागर अपार !

बन्दी उसमें जीवन-अंकुर
जो तोड़ निखिल जग के बन्धन—
पाने को है निज सत्व-मुक्ति,
जड निद्रा से जग कर, चेतन !

आः, भेद न सका सृजन-रहस्य
कोई भी; वह जो क्षुद्र पोत,
उसमें अनन्त का है निवास,
वह जगजीवन से ओत-प्रोत !

मिट्टी का गहरा अन्धकार
सोया है उसमें एक बीज,—
उसका प्रकाश उस के भीतर,
वह अमर पुत्र ! वह तुच्छ चीज़ !

ग्राम-चित्र

यहाँ नहीं है चहल-पहल वैभव विस्मित जीवन की,
यहाँ डोलती वायु म्लान सौरभ मर्मर से वन की।
आता मौन प्रभात अकेला सन्ध्या भरी उदासी,
यहाँ घूमती दोपहरी में स्वप्नों की छाया सी।
यहाँ नहीं विद्युत्-दीपों का दिवस निशा में निर्मित,
अँधियाली में रहती गहरी अँधियाली भय-कल्पित।
यहाँ खर्व वा नर? रहते युग युग अभिशापित,
अन्न वस्त्र पीडित असभ्य, निर्बुद्धि, पंक में पालित।
यह तो मानव-लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम, सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित।
झाड़-फूंस के विवर,–यही क्या जीवन शिल्पी के घर,
कीड़ों से रेंगते कौन ये? बुद्धि प्राण नारी नर?
अकथनीय क्षुद्रता, विवशता भरी यहाँ के जग में,
गृह गृह में है कलह, खेत में कलह, कलह है जग में।
यह रवि शशि का लोक: जहां हँसते समूह में उडुगण,
जहाँ चहकते विहग, बदलते क्षण क्षण विद्युत-प्रभ घन।
यहाँ वनस्पति रहते, रहतीं खेतों की हरियाली,
यहाँ फूल हैं, यहाँ ओस, कोकिला, आम की डाली!
ये रहते हैं यहीं,– और नीला नभ, बोई धरती,
सूरज का चौड़ा प्रकाश, ज्योत्स्ना चुपचाप विचरती!
प्रकृति धाम यह, तृण तृण, कण कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित,
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण जीवन्मृत!!

लहरों का गीत—

अपने ही सुख से चिर चञ्चल
हम खिल खिल पड़ती हैं प्रतिपल,
जीवन के फेनिल मोती को
ले ले चल करतल में टलमल !

छू छू मृदु मलयानिल रह रह
करता प्राणों को पुलकाकुल;
जीवन की लतिका में लहलह
विकसा इच्छा के नव नव दल !

सुन मधुर मरुत मुरली की ध्वनि
गृह-पुलिन नाँघ, सुख से विह्वल,
हम हुलस नृत्य करतीं हिल मिल
खस खस पड़ता उर में से अञ्चल !

चिर जन्म मरण को हँस हँस कर
हम आलिंगन करतीं पल-पल,
फिर फिर असीम से उठ उठ कर
फिर फिर उसमें हो हो ओझल !

—

महादेवी वर्मा

कौन तुम मेरे हृदय में—

(१)

कौन मेरी कसक में नित
मधुरता भरता अलक्षित ?
कौन प्यासे लोचनों में
घुमड़ घिर झरता अपरिचित ?
स्वर्णस्वप्नों का चितेरा
नींद के सूने निलय में !
कौन तुम मेरे हृदय में ?

(२)

अनुसरण निश्वास मेरे
कर रहे किसका निरन्तर ?
चूमने पदचिह्न किसके
लौटती यह श्वास फिर-फिर ?
कौन बन्दी कर मुझे अब
बँध गया अपनी विजय में ?
कौन तुम मेरे हृदय में ?

(३)

एक करुण अभाव में चिर—
तृप्ति का संसार संचित;
एक लघु क्षण दे रहा
निर्वाण के वरदान शत-शत;

पा लिया मैंने किसे इस
वेदना के मधुर क्रम में ?
कौन तुम मेरे हृदय में ?

(४)

गूँजता उर में न जानें
दूर के संगीत सा क्या !
आज खो निज को मुझे
खोया मिला, विपरीत सा क्या !
क्या नहा आई विरह—निशि
मिलन-मधुदिन के उदय में ?
कौन तुम मेरे हृदय में ?

(५)

तिमिर-पारावार में
आलोक-प्रतिमा है अकम्पित;
आज ज्वाला से बरसता
क्यों मधुर घनसार सुरभित ?
सुन रही हूँ एक ही
झंकार जीवन में प्रलय में !
कौन तुम मेरे हृदय में ?

(६)

मूक सुख दुख कर रहे
मेरा नया शृङ्गार सा क्या ?
झूम गर्वित स्वर्ग देता—
नत धरा को प्यार सा क्या ?
आज पुलकित सृष्टि क्या

करने चली अभिसार लय में ?
कौन तुम मेरे हृदय में ।

मधुर-मधुर मेरे दीपक जल !

मधुर-मधुर मेरे दीपक जल !
युग-युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल,
प्रियतम का पथ आलोकित कर !
सौरभ फैला विपुल धूप बन,
मृदुल मोम सा घुल रे मृदु तन !
दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित,
तेरे जीवन का अणु गल-गल !

पुलक-पुलक मेरे दीपक जल !
सारे शीतल कोमल नूतन,
माँग रहे तुझ से ज्वाला—कण;
विश्व-शलभ सिर धुन कहता 'मैं
हाय न जल पाया तुझ में मिल !

सिहर सिहर मेरे दीपक जल !
जलते नभ में देख असंख्यक,
नेहहीन नित कितने दीपक;
जलमय सागर का उर जलता,
विद्युत् ले घिरता है बादल !

विहंस विहंस मेरे दीपक जल !
द्रुम के अंग हरित कोमलतम,
ज्वाला को करते हृदयङ्गम;
वसुधा के जड़ अन्तर में भी,
बन्दी है तापों की हलचल !

बिखर बिखर मेरे दीपक जल !
मेरी निश्वासों से द्रुततर,
सुभग न तू बुझने का भय कर;
मैं अंचल की ओट लिये हूँ
अपनी मृदु पलकों से चंचल !

सहज सहज मेरे दीपक जल !
सीमा ही लघुता का बन्धन,
है अनादि तू मत घड़ियाँ गिन;
मैं दृग के अक्षय कोषों से—
तुझ में भरती हूँ आँसू-जल !

सजल सजल मेरे दीपक जल !
तम असीम तेरा प्रकाश चिर,
खेलेंगे नव खेल निरन्तर,
तम के अणु अणु में विद्युत् सा—
अमिट चित्र अंकित करता चल !

सरल सरल मेरे दीपक जल !
तू जल जल जितना होता क्षय,
वह समीप आता छलनामय;
मधुर मिलन में मिट जाना तू—
उसकी उज्ज्वल स्मित में घुल खिल !

मदिर मदिर मेरे दीपक जल !
प्रियतम का पथ आलोकित कर !

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ—

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी-भी हूँ !

नींद थी मेरी अचल निस्पन्द कण कण में,
प्रथम जागृति थी जगत के प्रथम स्पन्दन में;
प्रलय में मेरा पता पद-चिह्न जीवन में,
शाप हूँ जो बन गया वरदान बन्धन में;

कूल भी हूँ कूलहीन प्रवाहिनी भी हूँ !

नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ,
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ,
फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ,
एक हो कर दूर तन से छाँह वह चल हूँ,

दूर तुम से हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ ।

आग हूँ जिससे ढुलकते बिन्दु हिमजल के,
शून्य हूँ जिसको बिछे हैं पाँवड़े पल के,
पुलक हूँ वह जो पला है कठिन प्रस्तर में,
हूँ वही प्रतिबिम्ब जो आधार के उर में;

नीलघन भी हूँ सुनहली दामिनी भी हूँ !

नाश भी हूँ मैं अनन्त विकास का क्रम भी,
त्याग का दिन भी चरम आसक्ति का तम भी;
तार भी आघात भी झंकार की गति भी,
पात्र भी मधु भी मधुप भी मधुर विस्मृति भी;

अधर भी हूँ और स्मित-सी चाँदनी भी हूँ ।

जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'

पथिक और दीपावलि—

पथ-पथ, गृह-गृह, पद-पद जग की
दीपावलि भरपूर;
लक्ष्य-दीप था एक तुम्हारा
उच्च शिखर पर दूर ॥ १ ॥

रूप और सोने का जग में
था मोहक भाण्डार;
मुक्त रहे तुम, तुम पर कोई
कर न सका अधिकार ॥ २ ॥

युग बीते, तुम चलते आए,
बना एक इतिहास,
जिसमें सञ्चित यौवन, आँसू,
व्यथा, वेदना, हास ॥ ३ ॥

आया लक्ष्य समीप, पथिक, अब
आया लक्ष्य समीप;
केवल पथ के शूल न देखो,
देखो गिरि का दीप ॥ ४ ॥

जब पतंग खिंचकर प्रकाश से
उड़ता उसकी ओर,
पथ की दूरी देख न पाता
होकर ज्योति विभोर ॥ ५ ॥

प्रति-पद तुम्हें लिए जाता है
अथक लक्ष्य के पास;
विस्मृत होगी व्यथा बीच की
अमर अन्त का हास ॥ ६ ॥

जीवन के अथ से जीवन का
मिले चरम उत्थान,
और मध्य की बाधा की
कटुता का हो अवसान ॥ ७ ॥

तुम को ईर्ष्या हुई न जग की
जगमग देख अपार;
लक्ष्य-दीप का स्नेह तुम्हारा
पावे जग का प्यार ॥ ८ ॥

अभिनव का आवाहन—

(१)

बाँसुरी बदली, अभी
स्वर तो पुराना है तुम्हारा।
श्वास भी बदलो, अधर,
उच्छ्वास भी बदलो, पथिक; स्वर,
कण्ठ भी बदलो, हृदय
की प्रेरणा बदलो पुरातन।
रूढ़, जड़ विश्वास हैं
जो, कल्पनाएँ, धारणाएँ,
मूल से बदलो उन्हें;
बदलो पुराना रूढ़ चिंतन।

मंदगति जीवन न अब
बहता रहे बन स्वप्नधारा।
बाँसुरी बदली, अभी
स्वर तो पुराना है तुम्हारा।

(२)

देखते हो, भूमि भी
अब तो बदलना चाहती है,
उदधि, नभ, गिरि, ऋतुक्रम,
स्रोतस्विनी, कण-कण जगत् का
पुष्प, तरु, लतिका; यही
पथ भी तुम्हारा चाहता है;
आज "परिवर्तन" बना
है एक स्वर लघु का, महत् का;
चाहती लहरें कि हम
बदलें दिशा, बदलें किनारा;
बाँसुरी बदली, अभी
स्वर तो पुराना है तुम्हारा।

(३)

स्वर उठे ऐसा कि हो
कंपन नया वातावरण में;
नवल वंशी पर नई,
प्राणद, निराली गति बजाओ।
पंथ भी बदलो, चरण
बदलो, नया उत्साह लेकर;
गीत नवयुग को बना
अपना, पथिक, तुम आज गाओ।

साधना का प्रगति का,
एकांत का स्वर हो सहारा।
बाँसुरी बदली, अभी
स्वर तो पुराना है तुम्हारा।

(४)

स्वर उठे ऐसा कि हों
सिंचित जगत् के प्राण जिससे;
भीग जावे स्नेह से
उर मनुजता का; सत्य जागे।
रूप, रस, सुख, शांति से
वंचित रहे जो आज तक हैं,
वे उठें, हों समादृत,
पथ पर प्रगति के बढ़ें आगे।
भूमि स्वागत कर उठे
ले नित्य नव सौन्दर्य सारा।
बाँसुरी बदली, अभी
स्वर तो पुराना है तुम्हारा।

परिवर्तन—

प्रासादों में बजने वाली
श्लथ-स्वर शहनाई हुई मौन,
चारणदल कर्कश रव का
सामन्ती जयजयकार बन्द;
शोषित-जलकण-स्वर मिल-जुलकर
अब बने सिन्धु का महानाद,

नरकंकालों के खुले कण्ठ,
अब नए राग, अब नए छन्द ! ॥१॥
आभूषण आभा खो बैठे,
हो गए म्लान बहुरंग वस्त्र,
सत्ता निरलंकृत-दिगंबरा—
मानवता करने उठी प्राप्त;
मुकुटों को रौंद, हो रहा है
नव क्रांतिवाहिनी का प्रयाण,
आँखो के आगे युग-युग के
साम्राज्य हो चुके हैं समाप्त ॥२॥
नभ प्रेमकीर को मिला मुक्त,
वैभव का पिंजर गया छूट,
अब उसके पंख स्वतन्त्र हुए
हलका कर अपना स्वर्णभार।
सौन्दर्य-प्रतीक नहीं अब है
रक्ताभ कमल अथवा गुलाब,
अब एक जुही की श्वेत कली—
में सिमट रहा सौन्दर्यसार ॥३॥
परिवर्तित मूल्यों का युग है,
परिवर्तित तत्त्वों का समाज;
शव-आलिंगन मानवता ने
छोड़ा, जीवन से किया प्यार।
नभदर्शी होकर भी रखता
है कवि भू पर दृढ़ चरण आज;
दार्शनिक यथार्थ-अनुभवी है,
स्वच्छन्द-दृष्टि अब कलाकार ॥४॥

एकाकी चरण थिरकते हैं
नूपुर-बंधन से मुक्त आज,
वाद्यों के आडंबर छूटे,
संगीत-कण्ठ भी नहीं साथ;

नर्तक, बनकर नटराज, प्रलय–
सर्जन-लय पर कर रहा नृत्य,
कर रहे माप भू का पद, नभ—
इंगित, मानो, कर रहे हाथ ॥५॥

संगीत-कला अब स्वाभाविक,
मानो, राका में सिंधु-ज्वार;
स्वर सूक्ष्म-तार सा मिला रहा
मानो, भू से अम्बर अनंत।

निकला प्रासादों, दुर्गों से,
फैला कुटियों में ग्राम-ग्राम,
अब गीत नहीं, बन्दी, उसके
प्रहरी वैभव का हुआ अन्त ॥६॥

नूतन संस्कृति, नूतन संध्या,
नूतन रजनी, नूतन प्रभात,
अब पुरुष पुरातन और प्रकृति
भी नूतन ही सज उठे साज।

मानवता, जग, जीवन नवीन,
परिवर्तित नभ, भू, सप्तसिंधु,
नव दृष्टि, चेतना, नव चिंतन,
अब नव दर्शन, नूतन समाज ॥७॥

हुंकार उठी अब जन-गण से,
गूँजे भू, अंबर, गिरि, पयोधि;
पीड़ित, शोषित, दलितों ने अब।
जाना निज बल-पौरुष अपार।

ध्वनि सुनी शृखंलाखंडन की,
कण-कण ने गाया विजयगीत;
हो रही मुक्त है मानवता,
शोषक-सत्ताएँ रही हार ॥८॥

हरिकृष्ण प्रेमी

अनन्त के पथ पर—

वह कितनी दूर कहाँ है,
इसका क्या पता लगाऊँ?
केवल इच्छा है इतनी
मैं उस में ही मिल जाऊँ।

शत-शत पथ उस प्रियतम के
यह जगती बतलाती है,
उन पर अबोध मति चलकर
भ्रम-तम में खो जाती है।

वह कभी हृदय के भीतर
ही गाने लगता गाने,
फिर भी यह हृदय भटकता
है उस के दर्शन पाने।

वह क्या है इस का जग को
अब तक कुछ ज्ञान नहीं है,
वह आकर फिर जाता है
उस की पहचान नहीं है।

वह रूप बना भिक्षुक का
है भीख माँगने आता,
दे भेंट गालियों की जग
है घर से उसे भगाता।

वह रूप कोढ़ियों का रख
पथ पर है 'आहें' भरता,
पर जगत दम्भ के कारण
उस ओर न आँखें करता।

मुझ को भी धोखा देता
है क्यों अमरों का स्वामी ?
क्यों रूप नहीं दिखलाता
जीवन-धन, अन्तर्यामी ?

यह 'तरणी' भी बन्धन है,
'पतवार' भुलावा प्यारा,
इन लकड़ी के टुकड़ों से
मिल सकता कहीं किनारा !

जप, तप, पूजन, व्रत, साधन,
दिखता सब अभिनय भ्रम का।
समझा न रूप प्रियतम का,
कब पर्दा हटता तम का।

मैं किन आँखों से देखूँ
अपनी आँखों का 'तारा' !
आलोकित मेरे उर का
अब प्रिय कर दे उजियारा।

क्यों अंधकार में केवल
मैं गिनूँ गगन के तारे,
ये अस्थिर जगमग दीपक
भ्रम की छाया हैं सारे।

'तरणी' को छोड़ यहीं पर
मैं लहरूँगी लहरी बन,
नभ में बन पवन बहूँगी
मैं तोड़ जगत के बंधन।

यह एक 'बूँद' जब अपना
'अस्तित्व' मिटा डालेगी,
तब महासिन्धु में मिलकर
लहरों में लहरावेगी।

जग जिसको दीप समझता
यह केवल भ्रम की छाया,
ऐश्वर्य प्राप्त करने की
धुन में अमरत्व गँवाया।

उपेक्षित दीप—

आज शिखा प्रज्वलित हुई है इस दीपक की अन्तिम बार,
मेरे चारों ओर विदा का विस्तृत हुआ करुण संसार,
पूरी एक रात भी जल कर किया न कुटिया का शृङ्गार,
अब बुझता हूँ, किसी हृदय ने ढाली नहीं स्नेह की धार!

जग तो बिजली पर मरता है,
जहाँ स्नेह का नहीं निशान;
मेरी इस छोटी सी लौ का,
यहाँ नहीं हो सकता मान।

अमर ज्योति—

मुझे होलिका चली जलाने स्वयं भस्म हो गई अभागिन,
स्वयं काल का ग्रास बन गई मुझ को खाने वाली बाघिन;
जिस दिन जगत मारने मुझको भरकर लाया विष का प्याला,
उस दिन मुझ में अमर नशा बन झूम उठा जीवन मतवाला।

अमर अनल-पक्षी हूँ मैं तो,
मुझ को मरने का क्या भय है?
मेरी राख जी उठे फिर से,
होता जग को क्यों विस्मय है?

मेरे पंख वायु के इनको काट सकेगा कोई, बोलो?
मैं तो पानी की धारा हूँ, सुदृढ पर्वतो, छाती खोलो;
मेरे उर में झाँक झाँक कर देखो तुम अपनी तसवीरें,
बालू के कण-कण में अंकित गिरिमालाओं की तकदीरें।

अपने बन्दी-गृह में मुझ को
पकड़-जकड़ कर रखने वाले,
बाहर देखो, भग्न पड़े हैं,
वे लोहे से निर्मित ताले।

मेरी लाश गाड़ने को जब कब्र खोदने चली कुदाली,
बोली भूमि 'यहाँ' तो ज़ालिम के लाने की इच्छा पाली;
मेरा जीवन जग के कण-कण में व्यापक है मुझ को मारे,
इतनी जान किसी में है क्या, आँखें खोल, अरे हत्यारे!

मेरी एक-एक लोहू की
बूँद अमर जीवन का प्याला;
भोले, मेरी छाती में तुम
छेद रहे हो अपना भाला!

मेरी आँखें चमक रही हैं, नभ के नक्षत्रों में जग-मग,
गाड़ रहा है मेरी आंखों में क्यों तप्त शलाकायें जग;
मेरी काया की रग, जग की राहों की बिखरी रेखाएँ,
मेरे पथ के दीपक को क्यों व्यर्थ बुझाने चली हवाएँ।

अन्धकार को मैं ने अपने
ऊपर ओढ़ लिया चादर-सा;
मेरे लिए मरण का घर भी
सुखकर जीवन-धन के घर-सा।

मैंने अपने बीज बो रखे हैं भविष्य के मैदानों में,
मुझ को कूट रहे हो क्या तुम अपने ओछे खलिहानों में;
मैंने बिठा लिया रवि-शशि को अपने अम्बर के प्राणों में,
मुझ पर व्यर्थ चलाता है जग विष भर-भर तीखे बाणों में।

कोमल रोम बन गये जग के
शत-शत शर मेरी काया में;
जीता कब तक जुल्म बचेगा
मेरे शासन की छाया में।

मेरे गीत बन रहे निर्झर, प्राण बह रहे हैं सागर में,
मुझ को भरने को आये हो तुम ओछेपन की गागर में;
मेरा मौन मुखर हो उठता है भूकंपों की हल-चल में,
मेरी क्षमा वज्र बन जाती प्रलयंकर जलदों के दल में।

ऊँचे-ऊँचे महल उठाते
हैं क्यों मेरे आगे मस्तक;
टिक सकता है गर्व किसी का
महाकाल के आगे कब तक।

बहते हैं मेरी छाती पर जगत् जहाजों-से सकुचाते,
मुझ को मछली समझ फँसाने को तुम अपने जाल बिछाते;
मेरे प्राणों में तुम झाँको, तुम-से कितने वहाँ सो गए,
विजय खोजने जो आये थे, विफल हो गये, स्वयं खो गए।

मैंने लाद रखी युग-युग से
अपने सर पर वसुधा सारी,
शेषनाग का फन काटेगा,
जग के साहस की बलिहारी।

मैं अपने आँसू के कण से धो सकता अस्तित्व तुम्हारा,
मुझ पर उठा रहे हो पागल कुछ भी सोचे बिना दुधारा;
मेरी एक फूँक से उड़ने लग जाते हैं गिरि अम्बर में,
तुम पतंग-सा चले उड़ाने मुझे डोर से बाँध अधर में।

औरों से खिलवाड़ करो मत
तुम अपना अस्तित्व सँभालो,
जिस पर खड़े खिसकती है वह
भूमि उसे तो देखो भालो।

मैंने जान लिया है जीना, मरना, खिलना, फिर मुरझाना,
मेरे लिए एक हैं दोनों भैरव या विहाग का गाना;
जीवन और मरण दोनों हैं, प्राणों के ताने-बाने से,
मैं न रहूँगा दोनों में से, एक चीज़ के मिट जाने से।

तुम तलवार उठाकर आए,
मेरे सिर को आज उड़ाने,
किसने किरणों को काटा है
किस पर आये शस्त्र चलाने।

युग-युग से है जुल्म कह रहा, 'आज़ादी' का नाम मिटा दूँ,
उड़ने वाले जो पंखी हैं, उन्हें पकड़ कर पंख जला दूँ।
दिल-दल में जो दीपक जलता, उसे तोड़ कर पथ पर फेंकूँ।
और न्याय के मन्दिर में मैं आग लगा कर आँखें सेकूं॥

किन्तु, जुल्म जल रहा स्वयं ही
अपनी इच्छा की ज्वाला में,
उसे मरण का सर्प डस रहा
है उसकी ही जयमाला में॥

स्वागत शीश काटने वाले, स्वागत मुझे मिटाने वाले,
दे तलवार मुझे मैं भर दूँ अपने ही लोहू से प्याले;
मुझे जलाने को आये हो अपनी आग बुझाने वाले,
देखो, नभ में नव-जीवन पा हँसते शीश चढ़ाने वाले।

दीपक से दीपक जलता है,
ज्योति अमर माँ के मन्दिर की,
तुम दीपक की ज्योति बढ़ा दो,
बत्ती काटो मेरे सिर की।

रामधारीसिंह दिनकर

यह मानव—

घुट रही नर-बुद्धि की है साँस;
चाहती वह कुछ बड़ा जग, कुछ बड़ा आकाश।
यह मनुज, जिसके लिए लघु हो रहा भूगोल,
अपर-ग्रह जय की तृषा जिसमें उठी है बोल।
यह मनुज विज्ञान में निष्णात,
जो करेगा स्यात मंगल और विधु से बात।

यह मनुज, ब्रह्माण्ड का सबसे सुरम्य प्रकाश,
कुछ छिपा सकते न जिससे भूमि या आकाश।
यह मनुज, जिसकी शिखा उद्दाम,
कर रहे जिसको चराचर भक्ति-युक्त प्रणाम।
यह मनुज, जो सृष्टि का शृङ्गार।
ज्ञान का, विज्ञान का, आलोक का आगार।
पर, सको सुन तो सुनो, मंगल जगत् के लोग!
तुम्हें छूने को रहा जो जीव कर उद्योग—
वह अभी पशु है; निरा पशु, हिंस्र रक्त-पिपासु,
बुद्धि उसकी दानवी है स्थूल की जिज्ञासु।
कड़कता उसमें किसी का जब कभी अभिमान,
फूँकने लगते सभी, हो मत्त, मृत्यु-विषाण।

यह मनुज ज्ञानी, शृगालों, कुक्कुरों से हीन—
हो, किया करता अनेकों क्रूर कर्म मलीन।

देह ही लड़ती नहीं, हैं जूझते मन-प्राण,
साथ होते ध्वंस में इसके कला-विज्ञान।
इस मनुज के हाथ से विज्ञान के भी फूल,
वज्र हो कर छूटते शुभ धर्म अपना भूल।

यह मनुज, जो ज्ञान का आगार!
यह मनुज, जो सृष्टि का शृङ्गार!
नाम सुन भूलो नहीं, सोचो-विचारो कृत्य।
यह मनुज, संहार-सेवी, वासना का भृत्य।
छद्म इसकी कल्पना, पाषण्ड इसका ज्ञान,
यह मनुष्य, मनुष्यता का घोरतम अपमान।

बापू—

संसार पूजता जिन्हें तिलक, रोली फूलों के हारों से।
मैं उन्हें पूजता आया हूँ, बापू! अब तक अंगारों से॥
अंगार हार उनका, जिनकी सुन हाँक समय रुक जाता है।
आदेश जिधर का देते हैं, इतिहास उधर झुक जाता है॥
तू सहज शान्ति का दूत, मनुज के सहज प्रेम का अधिकारी।
दृग में उँड़ेल कर सहज शील, देखती तुझे दुनिया सारी॥
धरती की छाती से अजस्र, चिर-संचित क्षीर उमड़ता है।
आँखों में भर कर सुधा तुझे, यह अम्बर देखा करता है॥
इतिहास आँकता है गाथा, था भरत भूमि का एक भाग।
संयोग अकारण, वहाँ कभी फुंकार उठे विकराल नाग॥
विष की ज्वाला से दह्यमान हो उठा व्यग्र सारा खगोल।
मतवाले नाग अशंक चले खोले जिह्वाएं लोल-लोल॥

हंसों के नीड़ लगे जलने हंसों की गिरने लगी लाश।
नर नहीं, नारियों से होली खेलने लगा खुल सर्वनाश॥
नारी का शील गिरा खण्डित कौमार्य गिरा लोहू-लुहान।
भगवान् भानु जल उठे क्रुद्ध, चिंघाड़ उठा यह आसमान॥
पर, हिली नहीं कुरु की परिषद्, पर हिले नहीं पाण्डव सभीत।
ललकार कौंध कर चली गई रह गये सोचते धर्मनीति॥
बापू तू कलि का कृष्ण विकल, आया आँखों में नीर लिये।
थी लाज द्रौपदी की जाती, केशव-सा दौड़ा चीर लिये॥
तू कालोदधि का महास्तम्भ, आत्मा के नभ का तुंग केतु।
बापू! तू मर्त्य अमर्त्य, स्वर्ग, पृथ्वी, भू, नभ का महासेतु॥
तेरा विराट यह रूप कल्पना-पट पर नहीं समाता है।
जितना कुछ कहूँ मगर, कहने को शेष बहुत रह जाता है॥
लज्जित मेरे शृंगार, तिलक माला भी यदि ले आऊँ मैं।
किस भाँति उठूँ इतना ऊपर? मस्तक कैसे छू पाऊँ मैं॥
ग्रीवा तक हाथ न जा सकते, उँगलियाँ न छू सकतीं ललाट।
वामन की पूजा किस प्रकार, पहुँचे तुम तक मानव विराट॥

जवानी का झंडा—

(१)

घटा फाड़ कर जगमगाता हुआ,
आ गया देख, ज्वाला का बान,
खड़ा हो, जवानी का झंडा उड़ा,
ओ मेरे देश, के नौजवान!

(२)

सहम करके चुप हो गये थे समुन्दर,
अभी सुन के तेरी दहाड़,
ज़मीं हिल रही थी, जहाँ हिल रहा था,
अभी हिल रहे थे पहाड़।
अभी क्या हुआ ? किसके जादू ने आकरे,
शेरों की सी दी ज़बान ?
खड़ा हो, जवानी का झंडा उड़ा,
ओ मेरे देश के नौजवान !

(३)

खड़ा हो, कि पच्छिम के कुचले हुए लोग,
उठने लगे ले मशाल,
खड़ा हो, कि पूरब की छाती से भी,
फूटने को है ज्वाला कराल !
खड़ा हो कि फिर फूँक विष की लगा,
धूर्जटी ने बजाया विषान,
खड़ा हो, जवानी का झंडा उड़ा,
ओ मेरे देश के नौजवान !

(४)

गरज कर बता सबको, मारे किसी के,
मरेगा नहीं हिन्द-देश,
लहू की नदी तैर कर आ गया है,
कहीं से कहीं हिन्द-देश।
लड़ाई के मैदान में चल रहे ले के,
हम उसका उड़ता निशान,

खड़ा हो जवानी का झंडा उड़ा,
ओ मेरे देश के नौजवान !

(५)

अहा ! जगमगाने लगी रात की
माँग में रोशनी की लकीर,
अहा ! फूल हँसने लगे, सामने देख,
उड़ने लगा वह अबीर।
अहा ! यह उषा हो के उड़ता चला
आ रहा देवता का विमान,
खड़ा हो, जवानी का झंडा उड़ा,
ओ मेरे देश के नौजवान !

—

हरिवंशराय बच्चन

पथ की पहचान—

(१)

पूर्व चलने के, बटोही,
बाट की पहचान करले।

पुस्तकों में है नहीं
छापी गई इस की कहानी,
हाल इस का ज्ञात होता
है न औरों की ज़बानी,

अनगिनत राही गए इस
राह से, उनका पता क्या,

पर गए कुछ लोग इस पर
छोड़ पैरों की निशानी,

यह निशानी मूक होकर
भी बहुत कुछ बोलती है,
खोल इसका अर्थ, पंथी,
पंथ का अनुमान करले;

पूर्व चलने के, बटोही
बाट की पहचान करले।

(२)

यह बुरा है या कि अच्छा,
व्यर्थ दिन इस पर बिताना,

जब असंभव छोड़ यह पथ
दूसरे पर पग बढ़ाना,

तू इसे अच्छा समझ,
यात्रा सरल इससे बनेगी,

सोच मत केवल तुझे ही
यह पड़ा मन में बिठाना,

हर सफल पंथी यही
विश्वास ले इसपर बढ़ा है,
तू इसी पर आज अपने
चित्त का अवधान करले;

पूर्व चलने के, बटोही,
बाट की पहचान करले।

(३)

है अनिश्चित किस जगह पर
सरित, गिरि, गह्वर मिलेंगे,
है अनिश्चित किस जगह पर
बाग, बन सुन्दर मिलेंगे.

किस जगह यात्रा खतम हो
जायगी, यह भी अनिश्चित,

है अनिश्चित, कब सुमन, कब,
कंटकों के शर मिलेंगे,

कौन सहसा छूट जाएँगे
मिलेंगे कौन सहसा,
आ पड़े कुछ भी, रुकेगा
तू न, ऐसी आन करले;

पूर्व चलने के, बटोही,
बाट की पहचान करले।

(४)

कौन कहता है कि स्वप्नों
को न आने दे हृदय में,
देखते सब हैं इन्हें
अपनी उमर, अपने समय में,

और तू कर यत्न भी तो
मिल नहीं सकती सफलता,

ये उदय होते लिए कुछ
ध्येय नयनों के निलय में,

किन्तु जग के पंथ पर यदि
स्वप्न दो तो सत्य दो सौ,
स्वप्न पर ही मुग्ध मत हो,
सत्य का भी ज्ञान करले;

पूर्व चलने के, बटोही,
बाट की पहचान करले।

(५)

स्वप्न आता स्वर्ग का, दृग-
कोरकों में दीप्ति आती,
पंख लग जाते पगों को
ललकती उन्मुक्त छाती,

रास्ते का एक काँटा
पाँव का दिल चीर देता,

रक्त की दो बूँद गिरतीं,
एक दुनिया डूब जाती,
'आँख में हो स्वर्ग लेकिन
पाँव पृथ्वी पर टिके हों',
कंटकों की इस अनोखी
सीख का सम्मान करले;
पूर्व चलने के, बटोही,
बाट की पहचान करले।

साथी, सब कुछ सहना होगा !

मानव पर जगती का शासन,
जगती पर संसृति का बंधन,
संसृति को भी और किसी के प्रतिबंधों में रहना होगा !
साथी, सब कुछ सहना होगा !

हम क्या हैं जगती के सर में !
जगती क्या, संसृति सागर में !
एक प्रबल धारा में हमको लघु तिनके-सा बहना होगा !
साथी, सब कुछ सहना होगा !

आओ अपनी लघुता जानें,
अपनी निर्बलता पहचानें,
जैसे जग रहता आया है उसी तरह से रहना होगा !
साथी, सब कुछ सहना होगा !

साथी, साथ न देगा दुख भी—

काल छीनने दुख आता है,
जब दुख भी प्रिय हो जाता है,
नहीं चाहते जब हम दुख के बदले में लेना चिर सुख भी !
साथी, साथ न देगा दुख भी !

जिस परवशता का कर अनुभव
अश्रु बहाना पड़ता नीरव,
उसी विवशता से दुनिया में होना पड़ता है हँसमुख भी !
साथी, साथ न देगा दुख भी !

इसे कहूँ कर्तव्य-सुघरता
या विरक्ति या केवल जड़ता ?
भिन्न दुखों से, भिन्न सुखों से होता है जीवन का रुख भी !
साथी, साथ न देगा दुख भी !

मैं जीवन में कुछ कर न सका—

जग में अँधियाला छाया था,
मैं ज्वाला लेकर आया था,
मैंने जलकर दी आयु बिता, पर जगती का तम हर न सका !
मैं जीवन में कुछ कर न सका !

अपनी ही आग बुझा लेता,
तो जी को धैर्य बँधा देता,
मधु का सागर लहराता था, लघु प्याला भी मैं भर न सका !
मैं जीवन में कुछ कर न सका !

बीता अवसर क्या आएगा,
मन जीवन भर पछताएगा,
मरना तो होगा ही मुझ को जब मरना था तब मर न सका !
मैं जीवन में कुछ कर न सका !

नरेन्द्र शर्मा

सृष्टि—

सृष्टि पद्मनाभ की न
ऊर्णनाभ का वितान,
उगल दिया, निगल लिया—
यह न विश्व का विधान !

राम-जन्म क्यों हुआ,
न लक्ष्य राम-राज्य यदि ?
महामना जगत्पिता,
सहेतु सृष्टि भी महान !

जगत शिशु सलील था,
न किन्तु आज बाल्यकाल,
निरुपयोग निरुद्योग,
अब न बाहु-कर विशाल !

उदित रवि समान ज्ञान से
प्रकाशवान है—
मनुष्य सृष्टि-श्रेष्ठ का सगर्व
बुद्धिभद्र भाल !

मरणशील भी मनुष्य
मृत्यु से सभय नहीं,
सृष्टि का अभीष्ट भी
प्रलय नहीं, प्रलय नहीं !

गूढ़ है रहस्य, किन्तु
मूढ कब मनुष्य है?
निसर्ग का महान हेतु
प्राप्य है यहीं कहीं।
बीज से विटप प्रसून,
फिर अनन्त बीज-दान!
इस प्रकार शत सहस्र
चरण युक्त प्रगति-यान!
ज्ञान सारथी, न बहुत दूर
अब रहस्य भी—
व्यर्थ ही न जाएँगे
अनन्तपंथ ज्ञान-ध्यान!
विश्व-सर्ग ईश का
मनोविनोद मात्र था न!
हैं सहेतु व्यग्र आदि से
समग्र विश्व-प्राण!
है अनन्तदल विकासपद्म
पद्मनाभ का,
सृष्टि नाशवान है न, है
त्रिकाल वर्धवान!

क्यों प्रकाश हँसता है—

बाती के जलने पर जाने
क्यों प्रकाश हँसता है?
मिट्टी के तन दिवला में ही
ज्योतिर्मय बसता है!

सूरज की किरणें होती हैं
भू-रज पर न्योछावर,
बन-बन कर पर्जन्य बरसते
रसनिधि सातों सागर !

मिट्टी कठिन कसौटी, निज को
जहाँ राम कसता है !
बाती के जलने पर जाने
क्यों प्रकाश हँसता है ?

मिट्टी की जड़ता में ही तो
जमती जड़ भी जग की,
तम का अन्त-हीन आँचल ही
ओट किए दीपक की !

मिट्टी ही आश्रय देती जब
काल-सर्प डंसता है !
बाती के जलने पर जाने
क्यों प्रकाश हँसता है ?

——

सुख-दुःख—

जब तक मन में दुर्बलता है,
दुख से दुख, सुख से ममता है !

पर न सदा रहता जग में सुख,
रहता सदा न जीवन में दुख !
छाया-से माया-से दोनों
आने-जाने हैं ये सुख-दुख !

मन भरता, मन, पर क्या इनसे
आत्मा का अभाव भरता है!

बहुत नाज़ था अपने सुख पर
पर न टिका दो दिन सुख-वैभव,
दुख? दुख को भी समझा सागर
एक बूँद भी नहीं रहा अब,

देखा जब दिन-रात चीड़-वन
नित कराह आहें भरता है!

मैंने दुख-कातर हो-हो कर
जब-जब दर-दर कर फैलाया,
सुख के अभिलाषी मन मेरे
तब-तब सदा निरादर पाया,

ठोकर खा-खा कर पाया है
दुख का कारण कायरता है!

सुख भी नश्वर, दुख भी नश्वर
यद्यपि सुख-दुख सब के साथी,
कौन घुले फिर सोच-फ़िकर में
आज घड़ी क्या है, कल क्या थी!

देख तोड़ सीमाएं अपनी
जोगी नित निर्भय रमता है!

जब तक तन है, आधि व्याधि है
जब तक मन, सुख दुख हैं घेरे
तू निर्बल तो क्रीत भृत्य है,
तू चाहे, ये तेरे चेरे!

तू इन से पानी भरवा, भर
ज्ञान कूप, तुझ में क्षमता !

सुख दुख के पिंजर में बंदी
कीर धुन रहा सिर बेचारा,
सुख-दुख के दो तीर चीर कर
बहती नित गंगा की धारा,

तेरा जी चाहे जो बन ले
तू अपना हरता करता है !

——

तारा पांडे

जीवन में पल भर है हँसना—

जीवन में पल भर है हँसना !

कितने दुख कितनी चिन्ताएँ,
पल-पल विघ्न और बाधाएँ,
विवश बनाते हैं प्राणों को,
जग में केवल सहना-सहना !

कौन सदा जग में हँस पाया ?
दुख-सुख ने सबको उलझाया,
फूलों को क्षण भर ही खिलकर,
होता है फिर भू पर झरना !

हास अतिथि है और अपरिचित,
रुदन सदा प्राणों का परिचित,
साथी हैं सुख-दुख की स्मृतियाँ,
पथ अनन्त एकाकी चलना !
जीवन में पल भर है हँसना !

अगणित रत्न भरे अन्तर में—

अगणित रत्न भरे अन्तर में
है अभाव कैसा फिर ?
माँग रहा वरदान कौन सा
व्यथित जलधि गर्जन कर ?

रवि, शशि औ' नक्षत्र अनेकों
जिसमें शोभित सुन्दर,
चुपके से रोता है वह भी
ओस-अश्रु बिखरा कर।

जो महान है उनके तो
दुख भी महान ही होते,
पर दुख को अपना कर जग में
मन ही मन में रोते।

धन वैभव से क्या जीवन में
सच्चा सुख है आता,
आत्मा की अनुभूति! यही
दुख का प्राणों से नाता।

व्यथित वेदना से व्याकुल हो
जब प्राणों का कण-कण,
स्वयं प्रकाशित हो कर मन
करता प्रभु का आवाहन।

तब वह दुख भी सुख बन जाता
ले दर्शन की आशा,
रो-रो कर गाने गाता है
पागल मन चिर-प्यासा।

मन को बंधन नहीं सुहाता—

मन को बंधन नहीं सुहाता
ज्वाला का प्रतिक्षण आलिंगन,
मधुर वेदनाओं का चुंबन,

पल-पल मरने का आवाहन,
किन्तु न बंधन मन को भाता।

त्याग तपस्या से कर साधन,
बहुविधि नित करना आराधन,
खोज रहा आत्मा का चिर-धन,
मुक्ति हेतु वह गाना गाता!

होवे बन्धन-मुक्त अखिल भव,
अणु-अणु बँधे हुए हों नीरव,
रचे विश्व में बन्धन नित नव,
मन का बन्धन से क्या नाता?

जीवन सा ही सुखद हो मरण,
सुन्दर होवे स्वप्न जागरण,
मुखरित हो जग का लघु कण-कण
सीमा से असीम हो जाता।

मन को बन्धन नहीं सुहाता

मेरा जीवन ज्योतित कर दो—

ज्योति-रूप तुम, हे ज्योतिर्मय!
अंधकार मानस का हर दो!

रवि, शशि जो प्रकाश हैं पाते,
अंबर में दीपक जल जाते,
मैं इच्छुक हूँ उसी ज्योति की
एक किरण अंतर में भर दो!

मुग्ध शलभ खोता निज जीवन,
ज्वाला का करके आलिंगन,
जन्म-जन्म का शाप मिटाकर
आज उसे भी सुख का वर दो।

कली, फूल, पल्लव मुसकाते,
कलरव कर पक्षी नित गाते,
सोए जग को जगा सके जो
मुझ को ऐसा जागृत स्वर दो!

गीतों के सँग नभ में उड़कर,
पार करूँ पृथ्वी, गिरि, सागर,
मानवता के कंठ-कंठ में
मेरी कविता का निर्झर हो!

——

विद्याभास्कर अरुण

उन्मुक्त विहग—

मैं विहग उन्मुक्त नभ का, नीड़ सीमाहीन मेरा !

डाल पर तरु की तृणों का घोंसला लघु क्यों बनाऊँ ?
मैं असीम, ससीमता में बद्ध कैसे गीत गाऊँ ?
क्यों कहूँ 'अधिकार मेरा' जो पहर निशि का बसेरा ?
मैं विहग उन्मुक्त नभ का, नीड़ सीमाहीन मेरा !

पंख फैलाए उड़े ये जा रहे हैं नील बादल
उड़ रहा हूँ साथ मैं भी चोंच में ले दिव्य संबल,
सलिल-अंजन से रहा धुल संकुचित दृग-युग्म मेरा !
मैं विहग उन्मुक्त नभ का, नीड़ सीमाहीन मेरा !

हेम-मन्दिर से उषा हँस-हँस किरण-मणियाँ लुटाती
चटुल रंगीले परों पर साँझ अपना रँग चढ़ाती
रजत की बरसात, तारक-हीरकों से दीप्त डेरा !
मैं विहग उन्मुक्त नभ का, नीड़ सीमाहीन मेरा !

इस गगन की नीलिमा का कब किसी ने छोर पाया ?
क्षितिज ! वह भी दूर कितनी! कौन उसको देख आया?
दृष्टि के संकोच में ही दृष्टि सीमा का बसेरा !
मैं विहग उन्मुक्त नभ का, नीड़ सीमाहीन मेरा !

देश की दीवार मुझ को बाँध सकती आज क्योंकर ?
उठ चुका हूँ भूमि से मैं अब बहुत ऊँचा गगन पर !
देखता हूँ भूमि को भी एक रेखा-हीन घेरा !
मैं विहग उन्मुक्त नभ का, नीड़ सीमाहीन मेरा !

——

शंख-ध्वान—

(१)

यह अभिनव युग का शंख-ध्वान !

भर रहा घोर गुरु गर्जन से
अवनी-अम्बर का अन्तराल,
यह कोटि-कोटि कंठों का स्वर
भेदन करता दिक्-चक्रवाल !
धरती की छाती धड़क उठी,
अम्बर में बिजली कड़क उठी,
सागर का सीना कांप उठा,

फटने को गिरि ज्वाला-निधान !
यह अभिनव युग का शंख-ध्वान !

(२)

पशु-मूक-दासता-वक्ष चीर
युग-युग का टूटा आज मौन,
युग-कल्पों की बर्बरता को
ललकार रहा है आज कौन ?
यह मानव के उर की पुकार,
यह मानव के उर का क्रन्दन,
अब दनुज-ध्वंस-अवशेषों पर-

गूँजेगा बनकर विजय-गान !
यह अभिनव युग का शंख-ध्वान !

(३)

झनझना उठीं लो ज़ंजीरें
लो तड़क उठे शृङ्खला-जाल !

कँप उठीं अनागत के भय से
दीवारें भी काली कराल !
युग-युग के बंदी वह देखो
तैयार खड़े हैं लड़ने को,
पल में विप्लव मच जायेगा
पल में टूटेगा आसमान !
यह अभिनव युग का शंख-ध्वान !

(४)

वह भूखे-नंगों की टोली
वह दीन-शोषितों की कतार,
दुश्मन से लोहा लेने को
गर्जन करती है बार-बार !
यह उसका भीषण सिंहनाद,
यह उसका भीषण संघर्षण,
इसी धरती पर लहरायेगा
आज़ादी का ऊँचा निशान !
यह अभिनव युग का शंख-ध्वान !

(५)

हँस उठा क्षितिज की पलकों में
वह नव युग का स्वर्णिम विहान !
जुल्मी अंधियारे के साये से
मुक्त हुआ नव रश्मि-गान !

विहगों का कलरव गूँज उठा
हर तरु की डाली-डाली से—
बदलेगी दुनिया, बदलेगा
उसका यह जड़ शोषण-विधान !
यह अभिनव युग का शंख-ध्वान !

——

प्रगति-गीत--

बढ़े चलो, बढ़े चलो, क़दम-क़दम बढ़े चलो !
दिगन्त दीखता समीप भी अभी सुदूर है !
अभी कहाँ कछार, दिग्-विदिग् पयःप्रपूर है !
अभी पहाड़ तुंग-शृङ्ग राह में खड़े हुए !
अभी नदी-प्रवाह ज़ोर-शोर से चढ़े हुए !
बहादुरो, रुको कहीं न, ठोंक खम बढ़े चलो !
बढ़े चलो, बढ़े चलो क़दम-क़दम बढ़े चलो !
क़दम-क़दम बढ़े चलो, क़दम-क़दम बढ़े चलो ! ॥१॥
अभी समक्ष दह्यमान बालुका-प्रदेश हैं !
अभी उजाड़ झाड़ औ' झंखाड़ भूरि शेष हैं !
अभी मिला न आख़िरी पड़ाव का निशान है !
अभी दिगन्त-ओट में सुवर्ण-युग-विहान है !
सवेग चीरते हुए प्रगाढ़ तम बढ़े चलो !
बढ़े चलो, बढ़े चलो, क़दम-क़दम बढ़े चलो !
क़दम-क़दम बढ़े चलो, क़दम-क़दम बढ़े चलो ! ॥२॥
अभी कहाँ बुझा सकीं तृषा तृषित जवानियाँ !
अभी कहाँ अछल हुईं प्रणय-भरी कहानियाँ !

अभी उदास आस साँझ सी सुलग रही यहाँ !
अभी सुशुभ्रशीकरा रजत-सरित् वही कहाँ !

अभी कहाँ हुआ विषाद-भार कम, बढ़े चलो !
बढ़े चलो, बढ़े चलो, कदम-कदम बढ़े चलो !
क़दम-क़दम बढ़े चलो, क़दम-क़दम बढ़े चलो ! ॥३॥

अभी कुसुम-विकास में विनाश-अट्टहास है !
अभी बसन्त की बहार चंचला-विलास है !
अभी कहाँ हरेक साल फूलता रसाल है !
अभी कहाँ सपत्र झूमता करील-जाल है !

अभी मरण-शरण बना हुआ जनम, बढ़े चलो !
बढ़े चलो, बढ़े चलो, कदम-कदम बढ़े चलो !
क़दम-क़दम बढ़े चलो, क़दम-क़दम बढ़े चलो ॥४॥

अभी निरुद्ध-कण्ठ बुलबुलें कसक बहा रहीं !
अभी पिकालियाँ विषाद-बीन सी बजा रहीं !
अभी दवाग्नि-भस्मसात हो रहीं वनालियाँ !
अभी हुई न सिन्धु में प्रशांत बाड़वालियाँ !

अभी अखण्ड महफ़िलें सकें न जम, बढ़े चलो !
बढ़े चलो, बढ़े चलो, क़दम-क़दम बढ़े चलो !
क़दम-क़दम बढ़े चलो, क़दम-क़दम बढ़े चलो ! ॥५॥

अभी खुला नहीं रहस्य सृष्टि के विकास का !
अभी मिला नहीं नियम सृजन-निहित विनाश का !
अभी हुआ न अर्थ-बोध नीलिमा-विलास का !
अभी निगूढ़-भाव मन्द ज्योति-विन्दु-हास का !

अभी तमो-निमग्न है विकास-क्रम, बढ़े चलो !
बढ़े चलो, बढ़े चलो, क़दम-क़दम बढ़े चलो !
क़दम-क़दम बढ़े चलो, क़दम-क़दम बढ़े चलो ! ।।६।।

सहस्र-दीप्ति श्रांति-हीन नित्य एक चाल से,
रुके कहीं न, जा रहा चला अनादि काल से !
बहादुरो ! रुको कहीं न अन्तराय भीति से !
बढ़े चलो सवेग जूझते हुए अनीति से !
हिमाद्रि-सीस झुक चला समुच्चतम, बढ़े चलो !
बढ़े चलो, बढ़े चलो, क़दम-क़दम बढ़े चलो !
क़दम-क़दम बढ़े चलो, क़दम-क़दम बढ़े चलो ! ।।७।।

उखड़ चला तना हुआ विभावरी-वितान है !
दिगन्त में उठा रहा गवाक्ष-पट विहान है !
उषा सलज्ज हँस रही, सुगन्धि केश-जाल है !
सुवर्ण-थाल में लिए विजय-मरीचि-माल है !
बढ़ो, गले मिलो, रुको न, दम-ब-दम बढ़े चलो !
बढ़े चलो, बढ़े चलो, क़दम-क़दम बढ़े चलो !
क़दम-क़दम बढ़े चलो, क़दम-क़दम बढ़े चलो ! ।।८।।

———

नीरज

नसेनी—

दो बाँस, तीन डंडों से बनी नसेनी यह
जो खड़ी सहन का जोड़ रही छत से नाता,
धरती-आकाश बने जब से तब से इसपर
हर एक यहाँ चढ़-उतर, उतर-चढ़ता जाता !

आँधियाँ घिरीं तूफान चले, टूटे पहाड़
बदला जग, बदली सदियाँ, बदले सिंहासन,
पर अब तक बदल नहीं पाया है क्षण भरको
इस नई-पुरानी सीढ़ी का संसृति-शासन !

कोई आँगन में, कोई पहली सीढ़ी पर
कोई हो खड़ा दूसरी पर पछताता है,
पग धरने को है कोई विकल तीसरी पर
कोई छत पर जाकर निज सेज बिछाता है !

अचरज होता है कैसे बस दो बाँसों पर
है सधी सृष्टि इतनी विशाल, इतनी भारी !
कैसे केवल घुन लगे तीन इन डंडों पर
चढ़ उतर रही है युग-युग से दुनियाँ सारी !

है यह भी एक प्रश्न मैं पूछ रहा खुद से
क्या सब का छत पर जाना यहाँ जरूरी है ?
आना है क्या अनिवार्य सभी का आँगन में ?
क्या एक नसेनी सिर्फ़ जिन्दगी पूरी है ?

उत्तर देता आकाश कि चढ़ना ही जीवन
औ' मृत्यु उतरने का ही एक बहाना है,
है जन्म-मरण बस तीन सीढ़ियों की दूरी
सब को ऊपर जाना है, नीचे आना है।

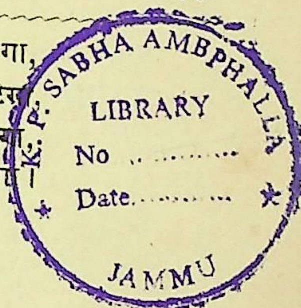
—

यह प्रवाह है—

यह प्रवाह है, यह न रुका है, यह न रुकेगा।
आने दो अवरोध पर्वतों की काया धर,
लगने दो गिरि चट्टानों की हाट-बाट पर,
उठने दो भूचाल, आँधियों के आँगन से,
झरने दो उल्काओं की बरसात गगन से,
यह न मौसमी जल गड्ढों में जो बँध जाये,
यह प्रवाह है, यह न रुका है, यह न रुकेगा।

कुछ परवाह नहीं जो अम्बर में हलचल है,
चिन्ता क्या जो सम्मुख मुरदों का दल-बल है,
चीख रहा विध्वंस, ढह रहा संस्कृति का गढ़,
मानवता की लाश रक्त में पड़ी रही सड़,
यह न नाश का दूत, थके जो इस बस्ती में,
यह विकास है, यह न थका है, यह न थकेगा।

मुट्ठी में भूकम्प, शीश पर मेरु उठाये,
नयनों में निर्माण, कण्ठ में राग बसाये,
एकाकी पाथेयहीन तन, मन चिर जर्जर,
स्वर्ग छीन लाने को जो बढ़ रहा निरन्तर,
उसे झुकाने, उसे मिटाने की सोचो मत,



वह मनुष्य है, वह न झुका है, वह न झुकेगा,
वह भविष्य है, वह न मिटा है, वह न मिटेगा,
वह विकास है, वह न थका है, वह न थकेगा,
वह प्रवाह है, वह न रुका है, वह न रुकेगा।

सभ्यता कहाँ आ गई—

सभ्यता कहाँ आ गई कहाँ है खड़ा विश्व
जा रहा है किधर गति-रथ विज्ञान-कलाओं का ?
किस दिशि उन्मुख इतिहास ? दे रहा क्या विकास ?
क्या शोर समय का है ? क्या ज़ोर हवाओं का ?

क्या यही सभ्यता का वह सुन्दर सुखद स्वर्ग ?
है पड़ा जहाँ पग-पग पर मुरदों का पड़ाव,
बिक रहा जहाँ नारीत्व रजत के टुकड़ों पर
फूलों के शव पर जहाँ शृगालों का जमाव !

क्या यही कला की चिर अनमोल अजन्ता है ?
मकड़ी-मकड़ों ने जहाँ तान रक्खे जाले,
घोंसले बने हैं जहाँ उलूकों-गिद्धों के
अजगर, बिच्छु, साँपों के जहाँ बोल-बाले।

यह जलते महल-मकान, तड़पते गली-गाँव,
यह भूख, भूखमरी, सूखा-बाढ़ अकाल-त्रास,
यह ध्वस्त धरा, यह बम्ब धुएँ से घायल नभ,
विज्ञान इसी को कहता क्या मानव विकास ?

सम्मुख लहराता है लोहू का अतल सिन्धु
इतिहास यहीं तक बस क्या चलकर आया है ?

मानव मानव के बीच घृणा की बन्दूकें
क्या यही प्रगति अब तक मज़हब कर पाया है?

बाइबिल के स्वर्ण सफ़ों पर गोली के अक्षर
क्या क्राइस्ट शेक्सपियर, शेली का यही देश?
कर में ऐटम, मस्तक में युद्धों के नक्शे,
लिंकन, वाशिंगटन, इलियट का क्या यही वेश?

क्या वाल्मीकि का यही तपोवन पावन है?
सीता की साड़ी जहाँ उतार रहा सोना,
क्या यही सूर का वृन्दावन मनभावन है?
राधा से जहाँ ज़माना करता अनहोना।

गाँधी का देश यही? सुभाष की यही भूमि?
है क़ैद जहाँ आज़ादी सेफ-तिजोरी में,
वेदों-उपनिषदों गीता का क्या यही मर्म?
हो जाय आदमी बन्द नाज़ की बोरी में।

मैं सोच रहा हूँ इस गति से चलकर ज़मीन
किस ओर आदमी की किस्मत ले जायेगी?
ऐसे ही गर विज्ञान चखता रहा लहू
दुनियाँ सारी कितने दिन खैर मनायेगी?

करती है जब विद्रोह प्रकृति होकर अधीर
आदमी स्वयं तब अपनी मौत बुलाता है,
जब बल अज़माता है निज पौरुष निर्बल पर
तब उसका ही निर्माण उसे खा जाता है।

अब भी है समय नहीं कुछ ज़्यादा देर हुई
लोहे के यह बोझीले वस्त्र उतारो तुम,

आँखों से यह सोने का सुरमा करो दूर
ले प्यार आँख में भू की ओर निहारो तुम !

सारे कण्ठों से एक साथ मिलकर गाओ
वह गीत कि जो सबके गीतों को गाता है,
जिसकी लय तान अमर है, कभी न टूटी है
वह गीत—जिसे जग कहता धरती माता है।

मेरा घर—

कोई नहीं पराया, मेरा घर सारा संसार है।
मैं न बँधा हूँ देश-काल की ज़ंग लगी जंज़ीर में,
मैं न खड़ा हूँ जाति-पाँति की ऊँची-नीची भीड़ में,
मेरा धर्म न कुछ स्याही-शब्दों का सिर्फ गुलाम है,
मैं बस कहता हूँ कि प्यार है तो घट-घट में राम है,
मुझ से तुम न कहो मन्दिर-मस्जिद पर मैं सर टेक दूँ
मेरा तो आराध्य आदमी, देवालय हर द्वार है।
कोई नहीं पराया, मेरा घर सारा संसार है॥

कहीं रहे कैसे भी मुझको प्यारा यह इन्सान है,
मुझ को अपनी मानवता पर बहुत-बहुत अभिमान है,
अरे नहीं देवत्व, मुझे तो भाता है मनुजत्व ही,
और छोड़ कर प्यार नहीं स्वीकार सकल अमरत्व भी,
मुझे सुनाओ तुम न स्वर्ग-सुख की सुकुमार कहानियाँ,
मेरी धरती सौ-सौ स्वर्गों से ज्यादा सुकुमार है।
कोई नहीं पराया, मेरा घर सारा संसार है॥

मुझे मिली है प्यास विषमता का विष पीने के लिये,
मैं जन्मा हूँ नहीं स्वयं-हित, जग-हित जीने के लिये,

मुझे दी गई आग कि इस तम में मैं आग लगा सकूँ,
गीत मिले इसलिए कि घायल जग की पीड़ा गा सकूँ,
मेरे दर्दीले गीतों को मत पहनाओ हथकड़ी,
मेरा दर्द नहीं मेरा है, सब का हाहाकार है।
कोई नहीं पराया, मेरा घर सारा संसार है॥

मैं सिखलाता हूँ कि जिओ औ' जीने दो संसार को,
जितना ज्यादा बाँट सको तुम बाँटो अपने प्यार को,
हँसो इस तरह, हँसे तुम्हारे साथ दलित यह धूल भी,
चलो इस तरह कुचल न जाये पग से कोई शूल भी,
सुख न तुम्हारा सुख केवल, जग का भी उसमें भाग है,
फूल डाल का पीछे, पहले उपवन का शृङ्गार है।
कोई नहीं पराया, मेरा घर सारा संसार है॥

दीप नहीं, दीप का प्रकाश मुझे चाहिए !

आँज मैं सकूँ जिसे हरेक आँख में अभय,
बाँट मैं सकूँ जिसे समस्त विश्व में सदय,
बाँध क्षुद्र धूल कर सके जिसे न क्रय, न क्षय,
दीप नहीं, दीप का प्रकाश मुझे चाहिए !

जो बँधे न वृन्त से, न डाल से, न पात से,
जो मुँदे न जो खुले न रात से, प्रभात से,
जो थके न जो झुके न धूप-वारि-वात से,
फूल नहीं, फूल का सुवास मुझे चाहिए !
दीप नहीं, दीप का प्रकाश मुझे चाहिए !!

घूँट घूँट पी सके घृणा-समुद्र जो अतल,
बूँद बूँद सोख ले सकल विषम-कलुष-गरल,
अश्रु अश्रु बीन ले धरा बने सुखी सकल,

तृप्ति नहीं, चिर अतृप्त प्यास मुझे चाहिए।
दीप नहीं, दीप का प्रकाश मुझे चाहिए !!

घेर जो सके समग्र स्वर्ग, नरक, भू, गगन,
बाँध जो सके सकल-करम धरम जनम-मरण,
छू सके जिसे न देश-काल की गरम पवन,
मुक्ति नहीं, मुक्त प्रेम-पाश मुझे चाहिए !
दीप नहीं, दीप का प्रकाश मुझे चाहिए !!

देवता नहीं, मनुष्य बस मनुष्य ही रहे,
अर्चना न, वन्दना, न द्वेष-युक्त मन रहे,
स्वर्ग नहीं, भूमि भूमि के लिए शरण रहे,
अमृत नहीं, मर्त्य का विकास मुझे चाहिए !
दीप नहीं, दीप का प्रकाश मुझे चाहिए !!

कवि-परिचय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी-साहित्य के युगान्तरकारी कलाकार हैं। जिस सवेग राष्ट्रीय काव्यधारा का सफल प्रतिनिधित्व मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, रामधारीसिंह दिनकर, सोहनलाल द्विवेदी जैसे कलाकारों ने किया है उस का मूलस्रोत हमें भारतेन्दु जी की कविता में मिलता है। आज जब कि भारत स्वाधीन हो चुका है हम इस बात का ठीक अनुमान नहीं कर सकते कि भारतेन्दु के युग में विदेशी सत्ता और शासन के विरुद्ध और स्वाधीनता के समर्थन मे आवाज़ उठाना कितना कठिन था। भारतेन्दु जी ने अंग्रेज़ी शासन, अंग्रेज़ी भाषा और अंग्रेज़ी सभ्यता—इन सब के विरुद्ध आन्दोलन किया और इनके विपक्ष राष्ट्रीयता, राष्ट्र-भाषा और भारतीय सभ्यता के प्रसार में सशक्त योग दिया।

समाज-पक्ष में अंध-विश्वासों और सारहीन रूढ़ियों पर भारतेन्दु जी ने निर्भीकता से प्रहार किया और स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह आदि समाज-सुधार के प्रमुख तत्वों का प्रचार किया। हिन्दी काव्य में भी उन्होंने क्रांतिकारी परिवर्तन किये। रीतिकाल की वासना-प्रधान काव्य-धारा को नवीन दिशा की ओर प्रवाहित किया। कविता को नवीन भाषा दी और नवीन विषय भी दिये। इनकी प्रेरणा से युग के कवि खड़ी बोली की ओर झुके और समाज-सुधार, देश-भक्ति, प्रकृति-प्रेम की नवीन भावनाओं ने काव्य में प्रवेश किया। आज का हिन्दी काव्य-साहित्य भारतेन्दु जी के निर्भीक कला-कौशल का ऋणी है।

भारतेन्दु जी अत्यन्त प्रतिभाशाली कवि, नाटककार और पत्रकार

थे। उन्होंने ३५ वर्ष की अल्पायु में ही परिमाण और सम्पन्नता दोनों की दृष्टि से चकित करने वाले साहित्य का सृजन किया। उन की छोटी-बड़ी रचनाओं की संख्या १७५ तक पहुँचती है। रचनाओं में 'प्रेम-माधुरी', 'प्रेम-फुलवारी', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'मुद्राराक्षस', 'अंधेरनगरी', 'भारत-जननी', 'भारत-दुर्दशा', 'चंद्रावली', नीलदेवी' आदि प्रसिद्ध हैं।

नाथूरामशंकर शर्मा

"रसिक-कुमुद-वन-कलाधर, प्रतिभा-पारावार।
कविता-कानन-केसरी, सहृदयता-आगार॥"

इन शब्दों में सामयिक युग के समर्थ आलोचक महावीरप्रसाद द्विवेदी ने शंकर जी की प्रशंसा की है। यह उनकी काव्यप्रतिभा का सबल प्रमाण है। द्विवेदी जी की कड़ी लेखनी से केवल उपचार के नाते प्रशंसा की आशा नहीं की जा सकती।

शंकर जी अपने युग के वश्यवाक् कवि थे। उनका छन्दःशास्त्र का ज्ञान गम्भीर और शब्दों पर अधिकार अद्वितीय था। समस्यापूर्ति तथा आशुकविता करने में वे सिद्धहस्त थे। अनेक कवि-सभा-सम्मेलनों ने उन्हें सम्मानित किया था। धार्मिक और सामाजिक विचारों में वे बड़े प्रगतिशील थे। आर्यसमाज का प्रभाव उनकी रचनाओं में स्पष्ट है। कई आलोचक इसी कारण उन पर साम्प्रदायिकता का आरोप करते हैं और उनकी कविताओं में कविता का अंश कम और उपदेश की मात्रा अधिक मानते हैं। परन्तु ऐसा करना कवि के साथ अन्याय करना है। आर्यसमाज ने कवि की दृष्टि को संकीर्णता नहीं, वरन् गतानुगति से बाहर निकलने की क्षमता प्रदान की है और उसकी

कविता का नीतिप्रधान अंश उसके युग की देन है। हम कवि की कविता का उसके युग से पृथक् होकर मूल्यांकन नहीं कर सकते।

शंकर जी का जन्म हरदुआगंज में संवत् १९१६ में तथा देहावसान वहीं संवत् १९८९ में हुआ। उनकी रचनाओं में 'अनुराग-रत्न', 'शंकर-सरोज', 'गर्भरण्डा-रहस्य' आदि प्रसिद्ध हैं। उनकी कविताओं का एक संग्रह 'शंकर-सर्वस्य' (प्रथम भाग) के नाम से हाल ही में आगरा से प्रकाशित हुआ है। कवि जी के सुपुत्र हरिशंकर शर्मा जी ने इसका संपादन किया है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

खड़ी बोली और व्रज के संक्रान्ति-काल में उत्पन्न होने के कारण हरिऔध जी को दोनों भाषाओं पर समान अधिकार प्राप्त था। व्रज-भाषा में इन्होंने पहले लिखना प्रारम्भ किया। व्रज की इनकी रचनाएं आगे चलकर 'रस-कलश' के रूप में संगृहीत हुईं। खड़ी बोली में इन का साहित्य अधिक विस्तृत और इनके कला-कौशल का अधिक प्रति-निधित्व करने वाला है।

'हरिऔध' जी का 'प्रिय-प्रवास' खड़ीबोली का पहला महाकाव्य है। इसमें संस्कृत के वर्णवृत्तों के आधार पर कृष्ण के पावन चरित का वर्णन किया गया है। इसमें इन्होंने पुरानी परिपाटी का त्याग करके कृष्ण के लौकिक रूप का ही प्रतिपादन किया है। कृष्ण यहां अवताररूप में नहीं प्रत्युत एक शक्ति-सम्पन्न लोकहितकारी महापुरुष के रूप में वर्णित हुए हैं। कवि के युग में समाज-सुधार के जो प्रबल आंदोलन चल रहे थे उन्हीं की प्रतिच्छाया हमें 'प्रिय-प्रवास' में दिखाई देती है। 'वैदेही-वनवास' इनका दूसरा महाकाव्य है। इनके अतिरिक्त 'चुभते-चौपदे' 'चोखे-चौपदे', और 'बोल-चाल' आदि इनकी अनेक रचनाएं प्रसिद्ध

हैं। 'पद्य-प्रसून' और 'कल्पलता' इनकी फुटकर कविताओं के संग्रह हैं। इनकी गद्य की रचनाओं में 'ठेठ हिन्दी का ठाठ', 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास', विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। उपाध्याय जी साहित्य के उन महारथियों में से हैं जिन्होंने खड़ीबोली को समर्थ काव्य-भाषा बनने की क्षमता प्रदान की है। हिन्दी संसार इस दिशा में इनकी सेवाओं को कभी भूल नहीं सकता।

उपाध्याय जी का जन्म संवत् १६२२ में निज़ामाबाद (यू. पी.) में हुआ और निधन वहीं सं० १६६८ में।

मैथिलीशरण गुप्त

आज तक कवि के नाते जितना लोक-सम्मान गुप्त जी को प्राप्त हुआ है, इस युग के और किसी भी कवि को प्राप्त नहीं हो सका। इनकी कविता की श्रेष्ठता की कसौटी यही लोक-प्रियता है।

गुप्त जी की भाषा व्याकरण के नियमों पर कसी हुई विशुद्ध खड़ी बोली है और छन्द प्रायः संस्कृत ढंग के। इन्होंने छन्दों में कुछ नये प्रयोग भी किये हैं। राष्ट्र और समाज इनके काव्य के ये दो प्रमुख विषय हैं। इन्होंने जो कुछ लिखा है, इन दोनों के उत्थान के लिए, इन दोनों में जागृति उत्पन्न करने के लिए। 'भारत-भारती' इनकी पहली रचना है। इसमें हमारे भारत के अतीत और वर्तमान का सुन्दर और मर्मस्पर्शी चित्र खींचा गया है। 'रंग में भंग'. 'किसान', 'वैतालिक', 'स्वदेश-संगीत', 'हिन्दू', और 'गुरुकुल' में भी स्वदेश-प्रेम का संगीत भरा है। 'जयद्रथवध', 'पञ्चवटी', 'सैरंध्री', 'शकुन्तला', 'वक-संहार', 'वन-वैभव', 'साकेत, कुणाल और यशोधरा में आर्य संस्कृति की भव्य झाँकी मिलती हैं। 'काबा और कर्बला' में मुहम्मद साहब और हसन, हुसैन के उदात्त चरितों का वर्णन है। 'अर्जन और विसर्जन' ईसाई संस्कृति

पर आधारित है। विषयों के चुनाव में यह उदारता कवि की सांस्कृतिक उदारता का प्रमाण है। 'जयभारत' इनकी नवीनतम बृहद् रचना है जिस में महाभारत की प्राचीन परन्तु चिरनवीन कथा को छंदों का स्वरूप दिया गया है। इनको 'साकेत' पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिल चुका है। इनके अतिरिक्त गुप्त जी ने कुछ अनुवाद भी किये हैं और कुछ एक नाटकों का भी सृजन किया है। बंगला के कवि कोकिल माइकल मधुसूदनदत्त के 'मेघनाद वध' और नवीनचन्द्रराय के 'प्लासी का युद्ध' का इन्होंने सुन्दर और सफल रूपांतर किया है। 'चन्द्रहास', 'अनघ' और 'तिलोत्तमा' इनकी नाटक रचनाएं हैं।

गुप्त जी का जन्म सम्वत् १६४३ में चिरगाँव, ज़िला झाँसी, में हुआ। इनके पिता श्री रामचरण गुप्त एक अच्छे कवि थे। काव्य करने की प्रवृत्ति इन्हें पिता से ही मिली और उसके लिए प्रोत्साहन मिला द्विवेदी जी से। इनकी रहनी अत्यंत सादा है और स्वभाव अत्यन्त विनम्र। आजकल ये राज्यसभा के आदरणीय सदस्य हैं। भारतीय सरकार ने अभी-अभी इन्हें पद्मविभूषण की उपाधि से सम्मानित किया है।

माखनलाल चतुर्वेदी

राष्ट्रीयता की जिस काव्यधारा का उदय भारतेन्दु से हुआ वह गुप्त और चतुर्वेदी में पल्लवित होती हुई ही दिनकर तक पहुंच सकी है। अतः वास्तव में चतुर्वेदी जी उसी कड़ी के अमूल्य रत्न हैं। अपने युग में राष्ट्रीयता की आग नवयुवकों में फूंकने में जितने ये समर्थ हुए हैं संभवतः दूसरा कोई कवि उतना नहीं। नेताओं ने स्वातन्त्र्य-संग्राम का सन्देश दे दिया था, जागरण का शंख बज चुका था, पर उस स्वर को जनता के हृदय तक पहुंचाने का काम अभी बाकी था। जनता के गिरे

आदर्शों को उठाकर उन्हें बलिवेदी तक पहुंचाने का काम इनकी कविताओं ने किया।

कविता में जो भूखण्ड हिला देने वाली शक्ति है उसी को संचित कर चतुर्वेदी जी ने समय समय पर प्रबल शौर्य का आह्वान किया है। उनकी 'जवानी' शीर्षक कविता में देश के नवयुवकों को अपना सर्वस्व निछावर करके बलिपथ पर अग्रसर होने का सन्देश है। कवि का विश्वास गाँधी जी के अहिंसा के सिद्धान्त में नहीं, वह हुंकार भरे स्वर में गाता है :—

विश्व है असि का, नहीं, संकल्प का है,
हर प्रलय का कोण काया-कल्प का है।
फूल गिरते शूल सिर ऊँचा किये हैं,
रसों के अभिमान को नीरस किये हैं।

तथा इसीलिये 'यौवन' को वह सक्रियता का आदेश देता है। उस जवानी का क्या लाभ जो राष्ट्र के किसी काम न आई? 'खून हो जाय न तेरा, देख पानी, मरण का त्योहार जीवन की जवानी'—कह कर वह जीवन की सार्थकता का दिग्दर्शन कराता है।

सरल शब्दावली से भावों के बल पर ओजस्विता का संचार कर देना उनके काव्य की सफलता है। स्वतन्त्रता-आन्दोलन में स्वयं भाग लेते रहने के कारण साहित्य में आपको 'भारतीय आत्मा' के उपनाम से स्मरण किया जाता है। 'हिम किरीटिनी' 'हिमतरंगिणी' और 'माता' आपके काव्य संग्रह हैं। आपका जन्म संवत् १६४५ में हुआ था।

—

जयशंकर प्रसाद

प्रसाद जी हिन्दी के युगान्तरकारी कवि हैं। गम्भीर दार्शनिकता, मौलिक प्रतिभा, उपज्ञ काव्य-कुशलता तथा भाषा और अभिव्यंजना-शैली पर अपूर्व अधिकार—ये उनकी ऐसी विशेषताएं हैं जो उन्हें कवियों की सामान्य श्रेणी से बहुत ऊपर उठा देती है। वे हिन्दी के प्रतिभाशाली कवि नहीं, महाकवि हैं।

प्रसाद जी पूर्णतः विद्रोही कवि थे। उन्होंने पूर्णबल और साहस के साथ काव्य सम्बन्धी प्राचीन रूढ़ियों पर एक-एक करके आक्रमण किया। अर्थभूमि, अभिव्यंजना, सौन्दर्य के उपकरण—तीनों के विषय में काव्य की धारा को नवीन सरणियों में प्रवाहित किया। प्रकृति को उन्होंने एक नवीन दृष्टिकोण से देखा। प्रकृति को सप्राणता प्रदान कर उसे मानवी भावनाओं से अनुप्राणित किया। उसकी जड़ता दूर कर उसे सचेत सहचारी के रूप में उपस्थित किया। प्रकृति और मानव के बीच की दीवारें गिरा दी गईं। प्रकृतिपरक विचारधारा में प्रसाद जी अंग्रेज़ी के स्वच्छन्द धारा से प्रभावित जान पड़ते हैं।

खड़ी बोली को उन्होंने कोमलता और मधुरता के साथ गम्भीर से गम्भीर भावों को वहन करने की क्षमता प्रदान की। छंदों के विषय में प्राचीन बन्धनों को अस्वीकार किया। नवीन-नवीन प्रयोगों-चरण-व्यवस्थाओं को प्रचारित किया। भिन्न-तुकान्त कविता ने उनकी काव्य-कुशलता का बल प्राप्त कर अपूर्व सौन्दर्य को वहन किया। वस्तुतः प्रसाद जी की प्रतिभा ने हिन्दी काव्य का एक प्रकार से कायाकल्प कर दिया। हिन्दी काव्य के इन नवीन तत्वों को छायावाद की संज्ञा मिली। यह छायावाद आगे चलकर निराला और पन्त जी के हाथों पुष्पित और पल्लवित हुआ।

कविता के अतिरिक्त प्रसाद जी ने सुन्दर नाटक, कहानियाँ, और

उपन्यास भी लिखे। 'प्रेम-पथिक', 'झरना', 'कानन-कुसुम', 'आँसू', 'लहर', 'कामायनी' उनके प्रमुख काव्य अथवा कविता-संग्रह हैं। 'अजात-शत्रु', 'जनमेजय का नाग-यज्ञ', 'स्कन्दगुप्त' और 'कामना' उनके आदर्श नाटक हैं और 'कंकाल' और 'तितली' समाज का निर्माण करने वाले उपन्यास। 'आंधी', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप' उनकी मौलिक कहानियों के संग्रह हैं।

प्रसाद जी का जन्म काशी में संवत् १९४६ में हुआ और मृत्यु वहीं संवत् १९९४ में।

सियारामशरण गुप्त

सियारामशरण जी गुप्त देश के राष्ट्र-कवि श्री मैथिली शरण गुप्त के छोटे भाई हैं। इनका जन्म सं० १९५२ में चिरगाँव, ज़िला झांसी, में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा हिन्दी के प्रसिद्ध मुसलमान कवि मुन्शी अजमेरी की देख-रेख में घर पर ही हुई। हिन्दी के अतिरिक्त बंगला, गुजराती, मराठी और संस्कृत साहित्य का इन्हों ने परिश्रमपूर्वक अध्ययन किया है। कविता करने की प्रवृत्ति इन्हें भाई मैथिलीशरण और पिता सेठ रामचरण जी से प्राप्त हुई।

विचारों में गुप्त जी गाँधीवादी हैं। गाँधीवाद ने सारे गुप्त परिवार को प्रभावित किया है। सत्य और अहिंसा में इनका अटल विश्वास है। पीड़ित मानवता के प्रति सहानुभूति और उसकी पीड़ा को दूर करने की आतुरता इनकी कोमल भाव-धारा की विशेषता है। इनके काव्य के विषय साधारणतया आख्यानात्मक होते हैं। सीधी-सादी छन्दोबद्ध कथा के द्वारा पाठक के हृदय में करुणा और त्याग के भावों को जगाने में ये बहुत कुशल हैं। इनकी भाषा अत्यन्त सुबोध, कोमल, मधुर और

मार्मिक होती है। पुराने छन्दों के साथ २ इन्हों ने कई एक नवीन प्रयोग भी किए हैं।

कविता के अतिरिक्त इन्होंने कहानी, नाटक और उपन्यास भी लिखे हैं। 'कोटर-कुटीर' इनकी कहानियों का संग्रह है, 'गोद', 'अन्तिम आकांक्षा' और 'नारी' सुन्दर उपन्यास है, 'पुण्य पर्व' अच्छा नाटक है और 'निष्क्रिय'-'प्रतिरोध', 'कृष्णा कुमारी' अतुकान्त गीति-नाट्य हैं। 'आर्द्रा, 'दूर्वादल', विषाद', मृण्मयी, उन्मुक्त', इनकी, कविताओं के संग्रह हैं और 'मौर्य-विजय', 'आत्मोत्सर्ग', 'अनाथ', 'पाथेय', और 'बापू' आख्यानात्मक खण्ड-काव्य हैं।

——

वियोगी हरि

वियोगी हरि जी पुराने भक्तिकाल के सन्त कवियों का चोलना लेकर हिन्दी जगत् में उतरे हैं। वही सन्तों की सी रहनी, सन्तों के से भाव और सन्तों की सी भाषा। सन्त उदार कोटि के, भाव वीरता और भक्ति में सने हुए और भाषा मीठी व्रजबोली। आधुनिक काल के व्रजभाषा के श्रेष्ठ कवियों में आपकी गणना होती है। संस्कृत और फारसी साहित्य का अच्छा अध्ययन किया है। गद्य में भी लिखते हैं और उसमें भी सुन्दर कवित्व होता है। वीररस के पात्र युद्धवीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर इन चारों पर बहुत सुन्दर दोहे लिखे हैं। ईश्वर-प्रेम और विनय के पद भी बहुत सुन्दर हैं। इन सब में स्थायित्व है। 'वीर-सतसई' आपकी प्रसिद्ध रचना है, इस पर आपको मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी मिल चुका है। 'छद्मयोगिनी' और 'वीर हरदौल' आपकी नाटक रचनाएं हैं। 'कविकीर्तन' 'अनुराग-वाटिका' 'व्रजमाधुरी-सार' आदि निबन्ध और संग्रह-ग्रन्थ हैं और 'प्रेमयोग' 'आर्तनाद' और 'सन्त-वाणी' बहुत सुन्दर गद्य-काव्य।

आपका पूर्व नाम हरिप्रसाद द्विवेदी है। आपका जन्म छत्रपुर राज्य (बुन्देल खण्ड) में सं० १९५३ में हुआ। बहुत काल तक आप हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मन्त्री रह कर सम्मेलन-पत्रिका का सम्पादन करते रहे हैं। आजकल आप हरिजन कालोनी में अछूतों की सेवा का कार्य कर रहे हैं।

——

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

नवीन जी लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकार और राजनीतिक नेता हैं। विदेशी सत्ता के विरुद्ध कांग्रेस के आन्दोलनों में सदैव भाग लेते रहे हैं और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद विधान परिषद् के सदस्य के नाते इन्हों ने विधान के निर्माण में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के प्रतिष्ठित पद पर आरूढ़ करवाने वालों में इनका प्रमुख स्थान है।

हिन्दी काव्य-क्षेत्र में नवीन जी की प्रतिभा बहुमुखी होकर अनेक धाराओं में प्रवाहित हुई है। उसकी एक विशेषता है राष्ट्रीयता। 'विप्लव-गान'—ऐसी उनकी कविताओं ने तरुण हृदयों में देश-प्रेम की उग्र ज्वाला प्रज्वलित करने का कार्य किया है। उनके काव्य की दूसरी विशेषता है शृंगारिकता। शृङ्गार में उन्होंने संयोग और वियोग के दोनों पक्षों का चित्रण किया है, किन्तु प्रधान भाव विप्रलम्भ ही है। समूचे रूप में नवीन जी का शृङ्गार पार्थिव वासना से अधिक कलुषित नहीं है। उनके काव्य की तीसरी प्रमुख विशेषता है रहस्यवादिता। उनके गीतों में अनेक स्थानों पर व्यक्त से अव्यक्त की ओर, ससीम से असीम की ओर ले चलने का संकेत है। कवि ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि गीतों में उसका परम उद्देश्य मानव के हृदय में उस 'पर परम' के प्रति तीव्र पिपासा को जागृत करना है। इस प्रकार नवीन जी की काव्यधारा अनेक सरणियों में प्रवाहित हुई है।

नवीन जी का जन्म शाजापुर गाँव (ग्वालियर) में हुआ। आप कई वर्षों तक श्री गणेश शंकर विद्यार्थी के सहयोग में 'प्रताप' और 'प्रभा' का सम्पादन भी करते रहे हैं। 'कुंकुम' 'रश्मि-रेखा', 'अपलक' इनकी कविताओं के संग्रह छप चुके हैं।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

साहित्य-क्षेत्र में यदि निराला जी को स्वच्छन्दता की प्रतिमूर्ति कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। भाषा, भाव और छन्द—काव्य के सभी अंगों में उन्होंने रूढ़िमत्ता, एवं जीर्ण पुरातन के प्रति एक सक्षम विद्रोह की भावना का प्रदर्शन किया है।

जिस समय निराला जी ने साहित्य में प्रवेश किया उस समय हिन्दी काव्य में अधिकांशतः संस्कृत छंदों का ही बोलबाला था। निस्सन्देह नवीन छायावादी युग की बदली हुई भावनाओं को वहन करने की सामर्थ्य इन छंदों में नहीं थी। निराला जी ने इस विषमता का प्रतिकार किया। तुक एवं मात्राओं आदि के बन्धनों से कविता को उन्मुक्त कर, उन्होंने केवल-मात्र लय का ध्यान रखते हुए मुक्त छंदों को अपनाया। पहले-पहल इनके क्रान्तिकारी प्रयोगों का भयंकर विरोध हुआ। इन 'मुक्त छंदों' को केंचुआ और रबड़ छन्दों की उपहासास्पद संज्ञाएं दी गईं। परन्तु निराला जी ने इस बात की कब चिंता की है कि उनके विषय में कोई क्या कहता है? वे निर्भीकता से अपने नवीन प्रयोगों में डटे रहे। अंत में विजय उनकी हुई। 'पंचवटी-प्रसंग', 'शिवाजी का पत्र', 'जूही की कली' आदि रचनाओं में उनके सफल अभिव्यंजना-कौशल एवं अबाध गति को देखकर विरोधियों को मुँह की खानी पड़ी। धीरे-धीरे प्रायः सभी प्रमुख हिन्दी कवि निराला जी के प्रयोगों की ओर प्रवृत्त होने लगे।

जीवन के मधुर एवं कोमल पक्ष के साथ-साथ निराला जी ने उसके परुष, करुण एवं विषम पक्ष का भी बड़ा मार्मिक चित्रण किया है। 'जूही की कली' यदि विलास की बू देती है तो 'भिक्षुक', 'विधवा', 'तोड़ती पत्थर' इत्यादि अनेक कविताएं ऐसी भी हैं जो हमें वास्तविक जीवन के सम्मुख ला कर खड़ा करती हैं। विषयों की इसी व्यापकता के कारण शुक्ल जी उनकी प्रतिभा को बहुवस्तुस्पर्शिनी की संज्ञा देते हैं।

दार्शनिक विषयों पर साधिकार लिखने वालों में निराला जी प्रमुख हैं। 'पंचवटी-प्रसंग', तथा 'तुम और मैं' आदि रहस्यवादी कविताओं में आप का वह रूप व्यक्त हुआ है।

काव्य के अतिरिक्त आप ने गद्य की भी अनेक सुन्दर रचनाएं की हैं। 'बिल्लेसुर बकरिहा','चतुरी चमार','प्रबन्ध-पूर्णिमा', 'निरुपमा' आदि अनेक रचनाएं आपकी कीर्ति का आधार हैं।

काव्यरचनाओं में अनामिका, गीतिका, परिमल, अणिमा, वेला, नये पत्ते, तुलसीदास इत्यादि प्रमुख हैं।

आप का जन्म संवत् १९५५ में मेदनीपुर गाँव (रियासत महिषादल), बंगाल में हुआ था।

उदयशंकर भट्ट

भट्ट जी का जन्म कर्णवास ज़िला बुलंदशहर में संवत् १९५५ में हुआ। इनके पिता का नाम श्री फतहशंकर दुर्गाशंकर मेहता था। ये अधिकतर पंजाब में रहे हैं। यहीं इन्होंने शास्त्री परीक्षा पास करने के अनंतर अनेक संस्थाओं में अध्यापन कार्य किया है। विभाजन के समय सनातनधर्म कालिज लाहौर में प्राध्यापक थे। आजकल नागपुर में रेडिओ विभाग में एक प्रतिष्ठित पद पर नियुक्त हैं।

भट्ट जी की कविताएं गम्भीर दार्शनिकता एवं उग्र विद्रोह की भावनाओं से पूर्ण होती हैं। मानव के प्रति मानव के अत्याचार को ये सहन नहीं कर सकते। समाज में किसी भी प्रकार का शोषण इनके लिए असह्य है। कर्मवाद के नाम पर दलितों को ऊपर उठने से रोकना अध्यात्महीनता है। केवल भाग्य के भरोसे अपनी दीन-हीन दशा से समझौता कर लेना कायरता है। मानव अपने भाग्य का स्वयं विधाता है। वह ही अपना ब्रह्मा है, विष्णु है, महेश है—ऐसी कवि की धारणाएं हैं।

'तक्षशिला', 'विसर्जन', 'राका', 'अमृत और विष', 'यथार्थ और कल्पना' 'युग-दीप' और 'मानसी' इनके प्रमुख काव्य एवं कविता संग्रह हैं। 'मानसी' का हिन्दी संसार ने बड़े समादर से स्वागत किया है। यह एक दार्शनिक खण्ड-काव्य है। इसमें मानवी सुख-दुःख के मूल कारण, उसकी स्थिति और उसकी व्यापकता का सूक्ष्म विवेचन उपस्थित किया गया है।

कविता के अतिरिक्त भट्ट जी ने अनेक सुन्दर नाटक लिखे हैं। हिन्दी में सर्वप्रथम दुःखान्त के नाटकों के लिखने का श्रेय भट्ट जी को ही है। नाटकों में 'दाहर', 'सगर-विजय', 'अम्बा', 'कमला' और 'मुक्ति-पथ' प्रमुख हैं। 'विश्वामित्र' और 'मत्स्यगंधा' के भावनाओं की गम्भीर आलोचकों ने बड़ी प्रशंसा की है। भट्ट जी के कई नाटक पुरस्कृत हो चुके हैं और कई एक को परीक्षाओं में स्थान प्राप्त हो चुका है।

—

सुमित्रानंदन 'पन्त'

प्रसाद जी ने हिन्दी काव्यधारा को जिस नवीन दिशा की ओर प्रेरित किया था उस दिशा में काव्य को सवेग-गति से आगे बढ़ाने वालों में पन्त जी की अपूर्व प्रतिभा का सबल योग है। प्रसाद जी प्राचीन साहित्यिक रुढ़ियों के विरोधी थे। वे काव्य की अर्थभूमि को विस्तार देकर उसे नवीन भाषा, नवीन अभिव्यक्ति, नवीन छन्द और नवीन अलंकार-सामग्री से विभूषित करना चाहते थे। प्रकृति को उन्होंने एक नवीन दृष्टिकोण से देखा। मानव के साथ उसका मधुर और अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित किया। प्रसाद जी की प्रगतिशील भावधारा छायावाद के नाम से प्रसिद्ध हुई। छायावाद के ये मूलतत्व जिन्हें प्रसाद जी ने जन्म दिया था, इस उत्कर्ष और सम्पन्नता से पन्त जी के काव्य में मिलते हैं कि कई आलोचकों के मत में प्रसाद जी की अपेक्षा पन्त जी ही छायावाद के पूर्ण प्रतीक स्वीकार किये जा सकते हैं।

पन्त जी की रचनाओं में उनके भाव-विकास के तीन स्तर स्पष्ट दिखाई देते हैं। पहले स्तर में कवि की चेतना प्राकृतिक सौन्दर्य से विमुग्ध होकर उसमें पूर्णतः लीन हो गई है। अपने और प्रकृति के बीच कवि कोई भेद-भाव अनुभव नहीं करता। प्रकृति उसकी सचेत सहचरी है, उसकी प्रत्येक चेष्टा उसके लिए अर्थ रखती है, उसका उल्लास उसे उल्लसित करता है और उसका हृत्स्पन्दन उसे स्पन्दित।

दूसरे स्तर में कवि युग के आग्रह से मानव के सुख-दुःखमय जगत् की ओर आकृष्ट होता है। साम्यवाद एवं मार्क्सवाद तथा अन्य युग की सवेग विचारधाराओं के सम्पर्क में आकर वह समाज और संस्कृति के बारे में अपनी मान्यताओं को स्थिर करता है।

तीसरे स्तर में चिन्तन-तत्व फिर से प्रबल हो कर कवि को आध्यात्मिकता की ओर प्रवृत्त करता है और कवि एकमानवता के आदर्श की

ओर अग्रसर होता हुआ दीखता है। 'वीणा', 'पल्लव', 'ग्रन्थि', और 'गुंजन' कवि के पहले स्तर के 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' दूसरे स्तर के और 'उत्तरा', 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' तीसरे स्तर के विचारों की परिचायक हैं। पन्त जी ने 'मधुज्वाल' के नाम से उमर-खैयाम की रुबाइयों का भावरूपांतर भी किया है जो बहुत सुन्दर बन पड़ा है।

पन्त जी की भाषा कोमल और मधुर है। व्याकरण के बन्धनों से प्रायः उन्मुक्त। रस, छन्द और अलंकार—इनके बारे में भी वे किसी बन्धन को स्वीकार नहीं करते।

पन्त जी कसौनी (अलमोड़ा) के रहने वाले हैं। आजकल रेडियो विभाग में कार्य कर रहे हैं।

महादेवी वर्मा

हिन्दी के 'छायावादी' काव्य-क्षेत्र में महादेवी जी का स्थान बहुत ऊँचा है। द्विवेदी जी के प्रभाव से इन्हों ने भी पहले सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर कुछ रचनाएं लिखी थीं किन्तु इन की प्रतिभा अधिक समय तक उस धारा के साथ निर्वाह न कर सकी। छायावादी एवं रहस्यवादी काव्य-धारा में इन्हों ने अपनी अपूर्व मौलिकता एवं व्यापक संवेदनात्मकता का परिचय दिया है।

विरह-वर्णन में महादेवी जी को विशेष कुशलता प्राप्त है। अज्ञात एवं अदृश्य प्रियतम इनके काव्य का चरम साध्य है। भावों में प्रवाह लाने एवं उन्हें प्रज्वलित करने के उद्देश्य से प्रायः प्रकृति का आश्रय लिया गया है। इनके काव्य में गेयता का अंश आधुनिक सब कवियों की अपेक्षा अधिक मिलता है। संस्कृत की कोमल-कान्त पदावली के आधार पर करुण शृङ्गार एवं प्रकृति के सजीव चित्र जिस तरलता के

द्योतक बन सके हैं, वह अन्यत्र दुर्लभ है। भावों की एकरूपता के कारण कुछ एक आलोचकों ने इन्हें आधुनिक युग की मीरा के नाम से सम्बोधित किया है।

आज तक इनके 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सान्ध्यगीत', और 'दीप-शिखा' नामक काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'अतीत के चल-चित्र', 'स्मृति की रेखाएं', तथा 'शृंखला की कड़ियाँ'—इन की गद्य रचनाएँ हैं।

महादेवी जी का जन्म संवत् १९६४ में फरुखाबाद (उत्तर प्रदेश) में हुआ। आजकल आप प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रधानाचार्या हैं।

जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'

मिलिन्द जी मुरार (ग्वालियर) के रहने वाले हैं। प्रारम्भिक शिक्षा के बाद ये पूना चले गये और वहीं से मैट्रिक परीक्षा पास की। मैट्रिक के पश्चात् उच्च-शिक्षा की प्राप्ति के लिए ये काशी विद्यापीठ में प्रविष्ट हुए। शिक्षा समाप्ति पर शांति निकेतन में अध्यापन कार्य करने लगे। कुछ समय तक इन्होंने महिला आश्रम वर्धा में भी अध्यापन-कार्य किया। फिर ये पंजाब चले आये और लाहौर से निकलने वाली पंजाब की सर्वप्रथम साहित्यिक मासिक पत्रिका 'भारती' का सम्पादन करने लगे। आर्थिक संकट के कारण 'भारती' अधिक देर तक जीवित न रह सकी और मिलिन्द जी मध्यप्रदेश वापस चले गये और वहीं वर्षों तक राजनीतिक कार्य करते रहे। सन् १९४२ के 'भारत छोड़ो' के आंदोलन में इन्हें जेल भी जाना पड़ा। अपने राजनीतिक कार्यों के फलस्वरूप इन्हें काफ़ी संकटों का सामना करना पड़ा है।

मिलिन्द जी की कविता देश-प्रेम और नव-निर्माण की सबल

भावनाओं से ओत-प्रोत है। इन्होंने किसानों, श्रमजीवियों, दलितों और उपेक्षितों की मूक वेदना को सशक्त वाणी प्रदान की है। ये नवीन युग के उन साधकों के प्रतिनिधि हैं जो इस जीर्ण समाज की जीर्ण-गरिमा के व्यर्थ के अभिमान से रक्षा करना चाहते हैं, जो धन और वैभव के ऊपर मानवता के मूल अधिकारों का महत्व देखना चाहते हैं और जो प्रत्येक प्रकार के शोषण और उत्पीड़न के शत्रु हैं। युग के प्रगतिशील साहित्यिकों में मिलिन्द जी का विशिष्ट स्थान है। इनकी वाणी में ओज है, प्रसाद है, और मर्म-स्पर्शिता है। इनकी प्रमुख रचनाएं ये हैं :—

काव्य-संग्रह—जीवन-संगीत, नवयुग के गान, बलिपथ के गीत, भूमि की अनुभूति।

नाटक—प्रताप-प्रतिज्ञा, समर्पण, गौतमनन्द।

निबंध-संग्रह—चिन्तन-कण।

'बलिपथ के गीत' और 'समर्पण' मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश की सरकारों द्वारा पुरस्कृत हो चुके हैं।

हरिकृष्ण प्रेमी

प्रेमी जी गुणा (ग्वालियर) के रहने वाले हैं। हाई स्कूल की परीक्षा इन्होंने मुरार से पास की और तत्पश्चात् कुछ समय के लिए लश्कर के विक्टोरिया कालिज में प्रविष्ट हुए, परन्तु अन्य अनेक महाकवियों की तरह इनकी काव्य-प्रतिभा की मादकता ने कालिज की शिक्षा को पूर्ण नहीं होने दिया।

प्रेमी जी की कविता का जन्म वेदना से हुआ है। जीवन-प्रभात से ही इन्हें अनेक तूफानों से संघर्ष करना पड़ा है। इनकी कविता इसी

संघर्ष का चीत्कार है। अपने बारे में प्रेमी जी ने स्वयं लिखा है :—

"मेरा जीवन तो सदा आँधी-तूफ़ानों की छाती पर सवार होकर चला है। कभी वह उड़ कर हिमालय के ऊपर पहुंचा है तो कभी समुद्र की गहराइयों में जा डूबा है, कभी थपेड़े खाकर मूर्च्छित भी हो गया है, उसकी बाँसुरी के स्वर रुके भी हैं किन्तु कोई अज्ञात मेरे श्वासों में श्वास भर जाता है और मैं गा उठता हूँ।"

प्रेमी जी का भावुक हृदय अनेक स्वर-धाराओं में प्रवाहित हुआ है। इसमें कहीं दीन और उपेक्षित हृदय का करुण क्रंदन है, कहीं राष्ट्र पर मर मिटने वालों की अमिट चाह और कहीं सौन्दर्य पर मुग्ध भ्रमरों का मादक संगीत। भाषा की सरलता और भावों की गम्भीरता इनके काव्य की विशेषताएं हैं। प्रेमी जी की सरल और उदात्त अभिव्यक्ति की रक्षा बहुत कम कलाकार कर पाये हैं।

प्रेमी जी एक भावुक कवि के अतिरिक्त एक उत्कृष्ट नाटककार भी हैं। इनकी काव्य-पुस्तकों और नाटकों को हिन्दी जगत ने बड़े आदर की दृष्टि से देखा है। कई एक रचनाएं पुरस्कृत भी हो चुकी हैं और कई एक ने परीक्षाओं में स्थान प्राप्त किया है। इनकी प्रमुख रचनाएं ये हैं :—

काव्य—आँखों में, जादूगरनी, अनन्त के पथ पर, अग्नि-गान, स्वर्ण-विहान, रूप-दर्शन आदि।

नाटक—रक्षा-बन्धन, पाताल-विजय, शिवा-साधना, स्वप्न-भंग, प्रतिशोध, आहुति, विष-पान आदि।

——

रामधारीसिंह 'दिनकर'

रामधारी सिंह दिनकर आधुनिक युग की राष्ट्रीय काव्यधारा के सर्वप्रमुख कलाकार हैं। इनके शब्दों में ओज है, साहस है और नवयुवकों के हृदय में राष्ट्रीयता के भाव भरने की अपूर्व सामर्थ्य।

कवि-जीवन के प्रारम्भ में दिनकर जी कबीर और मीरा के दार्शनिक विचारों से प्रभावित थे। अतः 'रेणुका' और 'द्वंद्व-गीत' में मानव जीवन और उसके सौन्दर्य के प्रति उदासीनता के भाव बिखरे हुए हैं। परन्तु शीघ्र ही दिनकर जी देश के राष्ट्रीय आन्दोलन के सम्पर्क में आये और संसार के बन्धनों से उन्मुक्त होने की इच्छा स्वाधीनता प्राप्ति की उग्र भावना में परिवर्तित हो गई। संसार की नश्वरता और जीवन की निस्सारता के स्वर देश के राष्ट्रीय जागरण के गीत-स्वरों में विलीन हो गये। दिनकर जी की ये राष्ट्रीय कविताएं 'हुंकार' में संगृहीत हैं। इनमें देश के अतीत के प्रति श्रद्धा और वर्तमान के प्रति विद्रोह की भावनाएं भरी हुई हैं। कवि नवयुवकों में राष्ट्रीयता के भाव जागृत कर उन्हें क्रांति के लिए उभारता है। इसके बाद कुछ समय के लिए कवि जीवन के मधुर और सरस पक्ष की ओर झुकता है और 'रसवन्ती' के रोमानी गीतों का सृजन करता है, परन्तु कवि की यह मुद्रा अधिक देर तक नहीं रहती और वह 'कुरुक्षेत्र' में एक गम्भीर दार्शनिक के रूप में प्रकट होता है। इस काव्य में युद्ध और हिंसा की समस्याओं पर विचार किया गया है। यहां तक पहुँचते कवि पूर्णतः गाँधीवादी हो गया है। वह विश्व में मानव को सत्य और अहिंसा के बल पर ही ऊपर उठते देखना चाहता है। अन्त में 'बापू' में कवि अहिंसा के देवता गाँधी जी के प्रति श्रद्धा के पुष्प अर्पण करता है।

दिनकर जी बिहार के रहने वाले हैं और आजकल भारतीय लोक-सभा के माननीय सदस्य हैं। इनका जन्म संवत् १९६५ है।

हरिवंशराय बच्चन

उमरखैयाम की रुबाइयों से प्रभावित हो कर बच्चन ने मादकता का पाथेय लेकर हिन्दी कविता-कानन में प्रवेश किया । रुबाइयों के अनुवाद के अतिरिक्त, मधुशाला, मधुबाला, और मधुकलश आदि आपके संग्रहों में भी वही उद्दाम एवं तरल भावनाएं विद्यमान हैं । हाला-प्याला की मुखर स्तुति होने के कारण पहले उपहास में आपको रचनाओं को 'हालावाद' की संज्ञा प्रदान की गई, किन्तु पीछे उसी को युग में प्रचलित मिथ्या आध्यात्मिकता का प्रतीक मान लिया गया और आज भी काव्य में स्वीकृत तथ्य के रूप में वर्तमान है ।

अपनी पत्नी के देहान्त से आपको बहुत पीड़ा हुई । विरह-वेदना से सिक्त करुण गीत आपके 'निशा-निमन्त्रण' 'आकुल-अन्तर' आदि में संगृहीत हैं । 'आकुल-अन्तर' में आपकी अन्तर्वेदना मुखरित हुई है । पर यौवन का ज्वार कम होने एवं जीवन में गांभीर्य आने के साथ ही आपका दृष्टिकोण अब बदल चुका है । पिछले दिनों 'सूत की माला' और 'खादी के फूल' नाम से आपने गाँधीवादी (अहिंसा-परक) रचनाएं लिखी हैं । आपकी इन रचनाओं में जीवन के प्रति एक स्थिर दृष्टिकोण दिखाई देता है । किन्तु उच्छृङ्खल भावुकता के अभाव में आपकी रचनाओं की सर्वप्रियता को अवश्य एक सीमा तक ठेस पहुँची है ।

भाषा आपकी सर्वत्र सरल एवं मधुर है । उसके साथ लय और गीत के समन्वय से कृतियों का मूल्य बहुत बढ़ गया है । अपनी कृतियों के आप सब से अच्छे गायक भी हैं । इसी कारण आप कवि-सम्मेलनों में प्रायः सर्वाधिक प्रिय रहे हैं । अभी हाल में आपको आक्सफोर्ड से पी० एच डी० की उपाधि प्राप्त हुई है । आपका जन्म संवत् १९६५ में हुआ था, तथा आजकल आप अलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त हैं ।

नरेन्द्र शर्मा

शर्मा जी एक भावुक कवि और गीतिकार हैं। उनके अपने शब्दों में वे 'मन की दुर्बलताओं के कवि' हैं! उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में जीवन के प्रति उल्लास और उत्साह की कमी है और विरह की करुण स्मृतियों की भरमार है। एक निराश वेदना से ग्रस्त होकर कवि की वाणी मुखरित हो उठी है। जीवन की कठोर वास्तविकताओं ने उसमें असीम उग्रता भर दी है। धीरे-धीरे कवि प्रगतिवाद की ओर अग्रसर होता है। 'अग्नि-शस्य' तक पहुंचते-पहुंचते उसके अन्दर प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझने का बल आ जाता है, और 'मन की दुर्बलताओं' का कवि मानव के पुरुषार्थ में आस्था प्रकट करने लगता है। अब वह प्रतिकूलता से घबराता नहीं, उससे लोहा लेना चाहता है।

शर्मा जी की भाषा सरस और मधुर है और शैली भावात्मक एवं हृदय को स्पर्श करने वाली। उनकी रचनाओं में 'पलाश-वन', 'प्रवासी के गीत', 'मिट्टी और फूल', और 'अग्निशस्य', प्रमुख हैं। शर्मा जी का जन्म संवत् १९७० है, और जन्मस्थान बुलन्दशहर।

तारा पांडे

श्रीमती तारा पांडे का कवि-हृदय अत्यन्त भावुक और संवेदनशील है। सुख-दुःख के लघुहिलोर इस भावुक हृदय को बड़े वेग से आन्दोलित कर देते हैं। इनमें भी दुःख का प्रभाव ही स्वाभाविकतया अधिक गम्भीर और व्यापक रहता है।

निस्सन्देह सुख-दुःख मानव के अपने ही मन की सर्जना हैं। हम स्वयं अपनी इच्छाओं के बंदी हो कर अपने बंधनों का निर्माण करते हैं, संकीर्ण ममता से विवश होकर सुख-दुःख का अनुभव करने

लगते हैं। इस स्थिति से मुक्ति प्राप्त करने के लिए ज़रूरी है कि हम अपने अहं की परिधि को चीर कर विश्व-मानवता के आँगन में खुल कर खेलें :—

तेरा ही है यह निखिल विश्व,
आ, आज इसे तू अपना ले।

दीपक तिल-तिल करके स्वयं जलता है, पर दूसरों का मार्ग आलोकित करता है; इस प्रकार दूसरों के लिए कष्ट सहने में ही जीवन की सार्थकता है। सावन के मेघ की तरह अपने जीवन-धन की वर्षा से दूसरों के उर की दाह को शीतल करने में ही आनन्द है। इस प्रकार इनकी कविता में वेदना और त्याग के प्रबल स्वर हैं। चिरकाल तक स्वास्थ्य के शिथिल रहने के कारण तथा बचपन में ही मातृसुख से वंचित हो जाने के कारण इनके शिशु के से भावुक हृदय पर निराशा और दुःख की अमिट छाप रही है और यही इनके काव्य की विशेषता है।

इनकी भाषा अत्यन्त सरल और मधुर है। उसमें भावों के अनुरूप स्वाभाविकता है और शांत कोमलता। 'वेणुकी', 'सीकर', 'शुक-पिक', 'अंतरंगिणी' इनके काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

——

विद्याभास्कर अरुण

पंजाब के सप्रतिभ तरुण कवियों में अरुण जी अपना विशेष स्थान रखते हैं। इनकी कविताओं 'की स्वच्छता, अनुभूति, जीवन और सहृदय आकर्षण' की साधिकार आलोचकों ने प्रशंसा की है। इनके 'सवेरा और साया' नाम के काव्य-संग्रह का अच्छा स्वागत हुआ है।

अरुण जी के भावुक हृदय में समाज के उत्पीड़ितों एवं शोषितों के प्रति गहरी संवेदना है। युग की आर्थिक और सामाजिक विषमताओं ने इनके कोमल हृदय-पटल पर सबल आघात किया है। इससे कवि का मानव असंतोष और विद्रोह की ज्वाला से जल उठा है। किन्तु उसकी वाणी में दुर्बलता, विषाद और निराशा के स्वर नहीं, अदम्य उत्साह की गर्जना है। युग-जीवन की प्रगतिशील शक्तियों ने उस में दृढ़ विश्वास भर दिया है कि शोषण का यह विधान अब अधिक देर तक नहीं रह सकता।

इसके अतिरिक्त कवि ने रूमानी भावना से अनुप्राणित होकर कुछ प्रेम के गीत भी गाये हैं जो अत्यन्त कोमल और मधुर बन पड़े हैं।

अरुण जी श्री हरगोविन्दपुर (पंजाब) के रहने वाले हैं। इनका जन्म संवत् १९७६ है। आजकल आप गवर्नमेंट कालेज लुध्याना में अध्यापन-कार्य कर रहे हैं।

गोपालदास 'नीरज'

'नीरज' जी एक गम्भीर चिन्तक, भावुक कवि और कुशल गीतिकार हैं। अपनी मौलिक प्रतिभा, उत्कृष्ट काव्य-चातुरी तथा मधुर कंठ-स्वर के कारण ये कवि-सभा-सम्मेलनों के सफल शृंगार हैं। हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेज़ी साहित्य का इन्होंने सश्रम अध्ययन किया है। अंग्रेज़ी में कविता भी करते हैं। इनकी अंग्रेज़ी कविता के कुछ नमूने इनके हिन्दी काव्य संग्रह 'प्राण-गीत' (द्वितीय भाग) में संगृहीत हैं।

'नीरज' जी के काव्य में जीवन के तूफ़ानों से जूझने केलिए अदम्य उत्साह, बल और आशा के स्वर हैं। आध्यात्मिकता के संकेत भी यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। व्यापक मानव-धर्म के आदर्श से इनकी

विचार-धारा बहुत प्रभावित है। इनके अनुसार मानवता की उपासना ही आत्म-विकास के लिए सब से बड़ी साधना है। इनका कहना है :--

क्या करेगा प्यार वह भगवान् को
क्या करेगा प्यार वह इन्सान को,
जन्म लेकर गोद में इन्सान की
प्यार कर पाया जो न इन्सान को।

'नीरज' जी की भाषा में यथोचित प्रांजलता है और शैली में स्पष्टता। कहीं-कहीं दार्शनिक अंशों में रूपकों का भी आश्रय लिया गया है। भदन्त श्री आनन्द कौसल्यायन जी ने इनकी तुलना संस्कृत के बौद्ध महाकवि अश्वघोष से की है। 'विभावरी', 'प्राणगीत' (२ भाग), और 'दो गीत'—इनकी कविताओं के संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

—

सार-समालोचना

गंगा-वर्णन—

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से पहले प्रकृति के सौंदर्य-चित्रण का हिन्दी-काव्य में स्वतन्त्र स्थान नहीं था। प्रकृति प्रायः शृंगार का शृंगार-मात्र थी। कवि की परम उदार प्रतिभा ने 'गंगा-वर्णन', 'यमुना-वर्णन' आदि कविताओं की रचना कर प्रकृति-चित्रण की एक नवीन और सुन्दर सरणी की ओर संकेत किया और इस प्रकार हिन्दी-काव्य में एक नवीन परम्परा को जन्म दिया। आगे चलकर 'काश्मीर-सुषमा' के लेखक श्रीधर पाठक तथा खड़ी बोली के सर्वप्रथम महाकाव्य 'प्रिय-प्रवास' के रचयिता 'हरिऔध' जी ने इस मार्ग का अनुगमन किया और तब से हिन्दी के अनेक समर्थ कलाकारों ने इस परम्परा का शृंगार किया है! प्रकृति-चित्रण की इस नवीन धारा में पश्चिमी साहित्य का प्रभाव स्पष्ट है। प्रस्तुत कविता (गंगा-वर्णन) कवि के 'सत्यहरिश्चन्द्र' नाटक से उद्धृत की गई है। इससे कवि की मौलिक प्रतिभा, सजीव वर्णन की क्षमता तथा सम्पन्न कल्पना का परिचय मिलता है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का सहज और स्वाभाविक प्रयोग दर्शनीय है। भारतेन्दु जी लिखते हैं:—

हीरक मणियों के समान उज्ज्वल और स्वच्छ गंगा के जल की धारा दर्शन, स्नान और जल-पान तीनों विधियों से प्राणियों के तीन (आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक) प्रकार के कष्टों को निवारण करती है, और इसी कारण स्वर्ग-प्राप्ति के लिए एक सुन्दर सीढ़ी के समान है। यह भगवान् विष्णु के श्रीचरणों का धोवन और भगवान् ब्रह्मा के कमण्डलु का शृंगार है। हिमालय-रूपी ऐरावत का सुन्दर कण्ठ-हार है, भगीरथ की कठोर तपस्याओं का पुण्य परिणाम है। सगर नरेश

के साठ हज़ार पुत्रों का—जोकि कपिल मुनि के शाप से भस्म हो गये थे—उद्धार करने वाली है। जलधारा में स्नान करती हुई सुन्दर रमणियां जल में लहलहाती हुई कमल की लताओं के समान शोभा दे रही हैं। वे अपने दोनों हाथों से पानी उछाल रही हैं, मानो दो कमल मिलकर स्वच्छ मोतियों के गुच्छे निकाल रहे हों। कहीं स्त्रियां अपने हाथों से मुँह धो रही हैं, मानो समुद्र के सम्बन्ध के कारण कमल चन्द्रमा का कलंक धो रहे हों। कितनी सुन्दर कल्पना है! पुराणों के अनुसार चन्द्रमा की उत्पत्ति (क्षीर-) सागर से बतलाई जाती है और कमल भी जल से ही पैदा होता है। जल से दोनों की उत्पत्ति के कारण भ्रातृ-सम्बन्ध की कल्पना अत्यन्त सार्थक है।

किरण—

प्रासाद जी छायावादी कवि हैं। 'किरण' उनकी उत्कृष्ट छायावादी रचनाओं में से है। यह उनके 'झरना' नाम के काव्य-संग्रह से उद्धृत की गई है। प्रकृति को एक सप्राण व्यक्तित्व से अनुप्राणित कर उस पर मानवीय भावों का सुन्दर आरोप करना छायावादी कवियों की एक प्रमुख विशेषता है। प्रस्तुत कविता में भी प्रकृति का मानवीकरण स्पष्ट है। किरण के दिव्य सौंदर्य को देखकर कवि का कोमल और भावुक हृदय आनन्द से विभोर हो उठा है। वह उसे जड सौंदर्य का प्रतीक नहीं, चेतना-सम्पन्न मानवीय सौन्दर्य का प्रतीक समझता है। उसके स्वरूप, कर्त्तव्य और साधना के प्रति उसकी अनेक जिज्ञासाएं हैं। किरण को सम्बोधित करता हुआ कवि कहता है:—

किरण! स्वर्ण-कमलों की धूली के समान सुनहले परमाणुओं को उड़ाती हुई, बाल-रवि के सुन्दर मुख पर घुंघराली लटों के समान क्रीड़ा करती हुई तुम कौन हो? कोकनद-पुष्पों की मधु-धारा के समान सरल,

प्रार्थना के समान नम्र, मौन होती हुई भी मुरली के समान मधुर, उस अज्ञात आकाश-लोक की दूति के समान तुम कौन हो ? यह तुम्हारी अरुण शोभा किसके प्रति अनुराग का परिणाम है, अर्थात् तुम किसके अनुराग में रँगी हो ? स्वर्गलोक को इस भू-लोक से जोड़ने वाले सूत्र के समान तुम दीख रही हो। क्या तुम इस भू-लोक को भी स्वर्ग के सदृश शोक और वासनादि से रहित बना दोगी ? सूर्य-रूपी कंकण से विभूषित उषा-सुन्दरी के हाथ के समान तुम किस की ओर मधुर संकेत कर रही हो ? अन्त में कवि चंचल किरण से सुमन-मन्दिर के द्वार खोल कर, वहां सोये वसन्त को जगाने का अनुरोध करता है। यह कवि की सौंदर्योपासना का लोक-मंगल की पुण्य भावना में अत्यन्त सुन्दर पर्यवसान है।

प्रियतम तव अंग-राग—

प्रस्तुत गीत श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जी के गीत-संग्रह 'रश्मि-रेखा' से उद्धृत किया गया है। 'नवीन' जी के गीतों में भावमयता और दार्शनिक-चिन्तना का सुन्दर सामंजस्य रहता है। इसी कारण इन गीतों का दर्शन-तत्त्व कुछ बहुत दुरूह और उलझा हुआ नहीं है।

प्रस्तुत गीत में जिन प्रश्नों को उठाया गया है वे प्रत्येक चिन्तनशील व्यक्ति के प्रश्न हैं। वे आज के नहीं, युग-युग के प्रश्न हैं। जीवन में अनेक बार ऐसे क्षण आते हैं, जब मानव संपन्नता में भी अभाव का अनुभव करता है, जब 'उस पार' के प्रति जिज्ञासा प्रबल होकर उसे विकल कर देती है। युग-युग से वियुक्त हुई आत्मा अपने मूल-स्रोत उस 'परमनिधि' को पाना चाहती है। काल के बन्धनों को तोड़ कर प्राचीन संयोग के सुखद संस्मरण उसे पुनर्मिलन के लिए व्याकुल कर देते हैं। यद्यपि वह स्वयं में निर्गुण है और 'पूर्ण मुक्ति' और

'चिर-विराग' ही उस निर्गुण का गुण है, तो भी इस पार्थिव शरीर के सम्बन्ध के कारण जो सेन्द्रियता उस पुनर्मिलन के मार्ग में बाधा है क्या उस सेन्द्रियता को मानव कभी छोड़ सकेगा, यही एक मूल प्रश्न है। इस गीत में मादक प्रतीकों द्वारा इसी मूल-प्रश्न को उठाया गया है।

विधवा--

प्रस्तुत कविता निराला जी की स्वस्थ प्रगतिशील रचनाओं में से है। यह उनके काव्य-संग्रह 'परिमल' से उद्धृत की गई है। इसी संग्रह की 'भिक्षुक' तथा कवि के एक दूसरे काव्य-संग्रह 'अनामिका' की 'तोड़ती-पत्थर' आदि उनकी इसी प्रकार की और रचनाएं हैं। इस प्रकार की कविताओं में कवि ने समाज का ध्यान उसके उपेक्षित अंगों के प्रति बलपूर्वक आकृष्ट किया है और उनकी दशा को सुधारने की प्रेरणा दी है। यद्यपि निराला जी उपदेश देने को कवि का कर्त्तव्य नहीं समझते—प्रत्युत वे इसे कवि की सब से बड़ी कमज़ोरी समझते हैं—तो भी सत्साहित्य में उनकी श्रद्धा ही नहीं, परम विश्वास है। रूढ़ियों का अंग-भंग करने तथा समाज में न्याय्य एवं स्वस्थ दृष्टिकोण को पल्लवित करने केलिए यथार्थ का यह सरल, स्वाभाविक और मार्मिक चित्रण परम प्रेरणामय है।

प्रस्तुत कविता में विषय की अवतारणा अत्यंत हृदयस्पर्शी है। अनेक सशक्त और सजीव उपमाओं द्वारा भारतीय विधवा का करुण चित्र सप्राण हो उठा है। 'देव-पूजा' के समान पवित्र, दीप-शिखा के समान शांत और भाव-मग्न, वृक्ष के आश्रय के टूट जाने पर आश्रय-हीन लता के समान दीन और विवश, भारत की विधवा क्रूर काल के विनाशकारी ताण्डव का—उसके घोर और कठोर अत्याचार का—जीता-जागता चित्र है। संसार का सुख-वैभव उसके लिए स्वप्न है,

एक भूली हुई कथा है। ऋतुओं का सौन्दर्य—यह बाह्य संसार के सुख-सौन्दर्य का द्योतक है—और 'अमर कल्पना में स्वच्छन्द विहार'—यह मानसिक सौन्दर्य और स्वतंत्रता का द्योतक है—दोनों ही उसके लिए वर्जित हैं। इस स्वार्थी समाज के पास इतना भी समय कहाँ है कि इस भाग्यहीन का दुःख भी सुन सके, ढारस देने की बात तो दूर रही ? अतः वह बेचारी एकांत में बैठकर ही—'लघु टूटी हुई कुटी का मौन बढ़ा कर'—अपने आप को दुनिया की नज़रों से बचा कर ही अपनी हृदय-वेदनाओं को उड़ेल सकती है। उसकी दुःख की कथा के साक्षी केवल आकाश, सरिता और समीर ही हो सकते हैं, केवल प्रकृति ही उसके दुःख में सम्मिलित हो सकती है।

वस्तुतः हमारे देश की विधवा दीनता की प्रतिमूर्ति है। समाज के पास मृत्यु के बिना उसके सम्मानशून्य जीवन का कोई उपचार नहीं। उसके दुःखी संसार का कोई वार नहीं, पार नहीं। उसकी साधना का कोई मूल्य नहीं, प्रतिफल नहीं। जब तक किसी समाज का एक महत्त्वपूर्ण अंग इस प्रकार दलित और उत्पीड़ित है वह किस गर्व से अपना मस्तक उन्नत कर सकता है ?

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ--

आधुनिक युग के हिन्दी-काव्य में छायावाद और रहस्यवाद को जन्म देने वाले प्रसाद जी हैं और इन भावनाओं को पल्लवित और पुष्पित करने वाले पन्त, निराला और महादेवी जी। प्रस्तुत कविता श्रीमती वर्मा जी की उत्कृष्ट रहस्यवादी रचनाओं में से है। यह उनके कविता-संग्रह 'नीरजा' से उद्धृत की गई है। इसमें जीवात्मा और परमात्मा के परम सम्बन्ध अथवा अभेद का अनेक सुन्दर कल्पनाओं द्वारा प्रतिपादन किया गया है। जीवात्मा का कथन है :—

मैं बीन भी हूँ, और उससे अभिव्यक्त होने वाली रागिनी भी। जिस प्रकार स्वरों की अभिव्यक्ति बीन से है, उसी प्रकार जीवात्मा की अभिव्यक्ति भी परमात्मा से है, अर्थात् मैं असीम परम तत्त्व भी हूँ और उसकी स्थूल अभिव्यक्ति भी। सृष्टि की पहली जड़ावस्था मेरी ही अचल निद्रा थी, उसके प्रथम स्फुरण में मेरा ही प्रथम जागरण था और उसकी प्रलय में भी मैं ही मूलभूत कारण हूँ। जीवन के पद-चिह्नों की तरह प्रलय के बाद शेष रहने वाले मेरे ही पद-चिह्न हैं।

मैं कूल (किनारा) भी हूँ और कूलहीन प्रवाहिनी भी—ऐसा जल-प्रवाह जिसने किनारों की मर्यादाओं को तोड़ दिया है। अर्थात् मैं ससीम अथवा असीम दोनों ही हूँ। मेरे सीमाबद्ध जीवन की सीमाएं जहाँ एक ओर अभिशाप हैं—क्योंकि वे मुझे उस परम तत्त्व से पृथक् करती है--वहाँ दूसरी ओर वे वरदान भी हैं क्योंकि उस परम तत्त्व तक ले जाने में वे ही साधन हैं।

इसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा के परम सम्बन्ध अथवा अभेद को लक्ष्य कर फिर कहा गया हैः—

मैं वह प्यासा चातक हूँ जिस की आँखें सदैव मेघ की ओर लगी रहती हैं अथवा जिसकी आँखों में सदैव सावन झरता है। अर्थात् जीवात्मा चिरकाल से उस परम तत्त्व के वियोग में विकल है। दूसरी ओर दीपक भी मैं ही हूँ—वह दीपक जिस में आकर शलभ-पुंज लीन हो जाते हैं। अर्थात् वह परम तत्व भी मैं हूँ जिस में आकर जीव लीन हो जाते हैं। पुष्प के सौंदर्य एवं सुवास को हृदय में स्थान देने वाली बुलबुल भी मैं हूँ। अर्थात् जीवात्मा उस परम तत्व की सुखद स्मृति को सदैव उर में छिपाए रहती है। मैं उस चंचल छाया की तरह हूँ जो तन से अभिन्न होती हुई भी उससे दूर रहती है। अतः मैं दूर होती हुई भी सदैव पास हूँ। चिर-विरहिणी होती हुई भी चिर-सुहागिनी हूँ।

मैं वह चिर-विरह की आग हूँ जो अनन्त अश्रुधारा में बहती रहती है और वह परम तत्त्व (ब्रह्म) भी मैं हूँ जिसके मिलने के लिए सतत प्रतीक्षा बनी रहती है। उस परम तत्त्व के विरह की विषम—पथरीली-भूमि में जन्म लेने वाला (स्नेह-) पुलक मैं हूँ और जीव के आधारभूत हृदय में प्रतिबिम्बित होने वाली परम सत्ता भी मैं हूँ। मैं मेघ भी हूँ और उससे उत्पन्न होकर उसी में लीन हो जाने वाली बिजली भी। अर्थात् जीवात्मा परमात्मा से अभिव्यक्त होकर उसी में लीन हो जाती है।

इसी प्रकार मैं विनाश भी हूँ और विकास भी, त्याग भी हूँ और आसक्ति भी। मैं तार भी हूँ, उँगली का स्पर्श भी हूँ और उस स्पर्श के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली झंकार भी हूं। मैं पात्र भी हूँ, मधु भी, मधुप भी और मधुपान से पैदा होने वाली विस्मृति भी। मैं अधर भी हूँ और उसकी मुस्कान भी। अर्थात् उस परम तत्त्व की भाँति मैं सब कुछ हूँ और सर्वव्यापक हूँ। मुझ में और उस परम सत्ता में कोई अन्तर नहीं। अर्थात् जीव और परमात्मा का परम अभेद है।

कविता की आध्यात्मिक प्रेरणा स्पष्ट है। श्रीमती वर्मा जी के काव्य में इस प्रकार के रहस्य-भरे स्वर-संकेत सर्वत्र मिलते हैं।

नसेनी—

जीवन-मरण का प्रश्न एक चिर-प्रश्न है और चिर-प्रश्न रहेगा। आज तक इसे न कोई सुलझा सका है और न सुलझा सकेगा। प्रस्तुत कविता 'नसेनी' में भी एक रोचक ढंग से इसी प्रश्न पर विचार किया गया है। यह कविता 'नीरज जी के कविता-संग्रह 'प्राण-गीत' से उद्धृत की गई है। 'नसेनी' के लिए कवि ने स्वयं कुछ संकेत दिए हैं। उसके अपने शब्दों में—

'नसेनी जीवन का एक रूपक है। दो बाँस—मन और बुद्धि हैं। तीन डंडे (सीढ़ियाँ) जीवन के तीन भाग क्रमशः बचपन, यौवन और

बुढ़ापा हैं। आँगन जहाँ से हम इस आयु-रूपी नसेनी पर चढ़ना आरम्भ करते हैं, जन्म का प्रतीक है और छत जहाँ पहुँच कर हमारी यह चढ़ाई खतम हो जाती है और जहाँ जाकर अन्त में हम सो जाते हैं, मृत्यु का प्रतीक है। कविता में आया हुआ 'घुन' दुःख का प्रतीक है।"

जीवन और मरण अनिवार्य हैं। जन्म जीवन-यात्रा का आरम्भ है तो मरण उसी यात्रा में एक विश्राम-बिन्दु, जिसके बाद फिर यात्रा का आरंभ है। जो आँगन में आया है उसका छत तक पहुँचना ज़रूरी है और जो छत पर पहुँचा है उसका आँगन में उतरना ज़रूरी है। अतः इसके लिए अधिक चिन्ता की ज़रूरत नहीं। संक्षेप में यही इस कविता का भाव है। भगवद्गीता में लिखा है:—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥

अर्थावली

अर्थावली

पृष्ठ शब्द अर्थ

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

३. अरुझाइ—उलझ कर, व्यस्त होकर।

पछरा खात—व्याकुल होकर गिरते हैं, मूर्च्छित होते हैं।

छांडि पांच औ' सात—आनाकानी छोड़ कर, बहाना-साज़ी छोड़कर।

४. अघ-रासि—पाप-समूह।

पराच्छित—पश्चात्ताप।

चित्रगुप्त—प्राणियों के पाप-पुण्य का लेखा रखने वाले यमराज।

५. छहरति—उछलती है।

पोहति—पिरोती है।

सोपान—सीढ़ी।

मज्जन—स्नान।

ऐरावत—इन्द्र का हाथी।

अंकम—गोद।

जोहत—देखते ही।

करि साका—ज़ोर-ज़ोर से।

धौंसा—नगाड़ा।

६. काँवरि—बहँगी।

पृष्ठ शब्द अर्थ

खगोल—आकाश।

कर-अमलक कीने—हाथ पर रखे हुए आमले की तरह।

७. गर—गला, कण्ठ।

विक्रम पारैं—वीरता दिखलाते हैं।

जुड़ानी—प्रसन्न होती हैं।

८. कपाल क्रिया—जलते शव की खोपड़ी को बाँस आदि से फोड़ने की क्रिया।

नाथूराम शंकर शर्मा

९. जतीले—जटिल।

नेगी—प्रबन्धक, संरक्षक।

१०. बुड़ा देंगे—डुबा देंगे।

११. पजारेंगे—जला देंगे।

संगाती—संगी, साथी।

अत्ता—ईश्वर।

कूटस्थ—सदा एक रूप में रहने वाला, अपरिणामी।

१२. प्रभंजन—आँधी, प्रचण्ड वायु।

अविकल्प—पूर्ण, अविकल।

व्यतिरेक—भेद, अन्तर, विशेषता।

पृष्ठ	शब्द	अर्थ
	खेट—ग्रह, नक्षत्र ।	
	भकूट – राशिकूट, ज्योतिष के अनुसार एक प्रकार की राशियों का समूह जो विवाह की गणना में शुभ माना जाता है ।	
	खमंडल—आकाश ।	
	ब्यार—वायु ।	
	करनी—साधना ।	
१३	प्राण, अपान, उदान, समान व्यान—शरीर के भीतर की जीवनाधार-वायु के पाँच भेद ।	
	समाय गये—स्वर्ग सिधार गये ।	
१४	निगमागम—वेद-शास्त्र ।	
	लबार—झूठा ।	
१५	ऋक्ष—नक्षत्र ।	

अयोध्यासिंह उपाध्याय

पृष्ठ	शब्द	अर्थ
१६	आदौ—पहले ।	
	राका-श्री—पूर्णिमा की शोभा ।	
	सुविधु—सुन्दर चन्द्रमा ।	
	वनज—कमल ।	
	सोंधे-डूबी—सुगन्धित ।	
१७	कालिन्दी—यमुना ।	
१८	लैरू—छोटा बच्चा ।	
	अहि—साँप ।	
१९	सुरसरित—गंगा ।	
	मार्जनीया—क्षमा के योग्य ।	
२१	सुअनों—बच्चों ।	
२२	कर्त्तनकारी—काटने वाला ।	

मैथिलीशरण गुप्त

पृष्ठ	शब्द	अर्थ
	अरणि—एक वृक्ष ।	
२३	अरणि मथानी—अरणि की लकड़ी की बनी हुई मथानी ।	
	गहन—घना वन ।	
२४	अलक्ष—अदृश्य ।	
	त्वरा—शीघ्रता ।	
	गुह्यक—यक्ष ।	
	करका—ओला ।	
२६	त्राता—रक्षक ।	
२७	लक्षक—उचित लक्ष्य का निर्देश करने वाला ।	
	विश्रुत—प्रसिद्ध ।	

माखनलाल चतुर्वेदी

पृष्ठ	शब्द	अर्थ
२८	पानी—सम्मान ।	
	धानी—धान के रंग का ।	
३०	ग्रामसिंह—कुत्ता ।	
	भवानी—दुर्गा ।	

पृष्ठ शब्द अर्थ

रेखियाँ—रेखाएं।

३१ आटा-दाल—जीवन-सामग्री।

छापा—जाति अथवा संप्रदाय-विशेष का चिह्न।

३२ रेतो—(रेती से) रगड़-रगड़ कर तेज़ करो।

जयशंकरप्रसाद

३५ उन्मेष—उदय।

सँभार—संभाल, होश।

उबार—बचाव।

मृगमरीचिका—मृगतृष्णा, मिथ्या प्रतीति।

कुसुम-वाहना—पुष्पों को धारण करने वाली।

मलयज—चन्दन।

शर्वरी—रात्रि।

३६ शिशिर—शिशिर ऋतु की, ठण्डी।

प्रभंजन—प्रचण्ड वायु।

कुहेलिका—कुहरा।

सरसिज—कमल।

किंजल्क—पुष्प-धूली, कमल का केसर।

३७ कोकनद—लाल कमल।

विरज—शोकरहित।

पृष्ठ शब्द अर्थ

सुदिन-मणि-वलय—सूर्य-रूपी कंकण।

३८ निरीह—भोले-भाले।

शलभ-पुंज—पतंगों का समूह।

अनल-शिखा—अग्नि की ज्वाला।

३६ अनंग—कामदेव, वासना, प्रेम।

४० ललक—प्रबल इच्छा।

हाला—मदिरा।

कुरंग—हरिण।

निषंग—तरकश।

४१ मधु-पिंगल—मदिरा के समान भूरे रंग वाली।

कलरव—मधुर शब्द।

संसृति—संसार।

४३ नग—पर्वत।

अग-जग—स्थावर और जंगम।

सियारामशरण गुप्त

४३ कालकूट—विष।

दुर्धर—प्रबल।

कुलिश-कठोर—वज्र के समान कठोर।

पृष्ठ	शब्द	अर्थ
	झंझा—आँधी ।	
	कृतान्त—यमराज ।	
	विभ्रंश—विनाश ।	
४६	प्राची—पूर्व दिशा ।	
	कोर—किनारा ।	
	भोर—प्रातःकाल ।	
४७	क्षतच्छिन्न—क्षत-विक्षत, ज़ख्मी ।	
	गह्वर—गुफा ।	
४८	वातूल—तूफान ।	
४६	सन्तरण—पार कर जाना ।	

वियोगी हरि

पृष्ठ	शब्द	अर्थ
५०	विगस्यौ—खिल गया ।	
	रोहित—रोहिताश्व, राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र का नाम ।	
	सत्यसन्ध—सच्ची प्रतिज्ञा वाला ।	
	कादर—कायर ।	
	उदर खलाय कैं—दुष्ट उदर के लिए ।	
	चून—आटा ।	
	सदखून सों—सदा खून से, अथवा सैंकड़ों पशुओं के खून से ।	
	नृह्मर—केसरी ।	
५१	बल-सायर—शक्ति का समुद्र ।	
	भभरि—डर कर ।	
	बिनत-उधेरत—उधेड़-बुन करते हो, व्यर्थ की सोच-विचार करते हो ।	
	मलिन्द—भ्रमर ।	
	पतधर—लाज रखने वाला ।	
५२	बख़त-बलन्द—भाग्यवान् ।	
	गाज—बिजली ।	
	वृष—एक राशि ।	
	बिलगे हूँ—अलग हो जाने पर ।	
	नठे—शक्तिहीन हो गये ।	
५३	उत—उधर, वहाँ ।	
	सतदान—सच्चा दान ।	
	सुठि—सुष्ठु, अच्छा ।	
	पारथ-सारथि—अर्जुन के सारथि, कृष्ण ।	
	फरति—फल लाती ।	
	जीव—प्राण ।	
	सिरमौर—शिरोमणि, सरताज ।	
	भान—सूर्य ।	
५४	उपखान—उपाख्यान, कथा ।	

पृष्ठ	शब्द	अर्थ
	किन	क्यों न ।
	पावन-धूर	चरण-धूलि ।
	पूरि पैज	वचन पूरा करके।

बालकृष्ण शर्मा नवीन

पृष्ठ	शब्द	अर्थ
५५	अधिकरण	आश्रय ।
	वैयक्तिक	व्यक्ति से संबन्ध रखने वाला ।
	व्यष्टि	व्यक्ति ।
	समष्टि	समाज ।
५६	ईति	उपद्रव ।
	भीति	भय ।
५७	सान्तता	अन्त सहित होने का भाव, नश्वरता ।
	प्रणोदना	प्रेरणा ।
	गमक उठा है	महक उठा है ।
	परिरंभण	आलिंगन ।
५८	गत	बीता हुआ, अतीत ।
	उपकरण-नीप	इन्द्रिय-रूपी कदम्ब वृक्ष ।
	अमियसनी	अमृत से भरी हुई ।
५९	सृति	मार्ग ।
	स्मरण-मीन	स्मृति-रूपी मछली ।
६०	अपुनर्भव	दूसरी बार न होने वाला ।
	लुंज-पुंज	लँगड़ा-लूला ।
	छुर	छुरी ।
६१	पलीता	आग लगाने की मोटी बत्ती ।
	ज़नखा	हिजड़ा, (पं. खुसरा) ।

सूर्यकांतत्रिपाठी निराला

पृष्ठ	शब्द	अर्थ
६२	पुनर्वार	फिर ।
	बन्द	छंद, पद्य ।
६३	विराट्	महान् ।
	नव्य	नूतन ।
६४	पाँख	पर ।
६५	खटतर	अत्यन्त तीक्ष्ण ।

उदयशंकर भट्ट

पृष्ठ	शब्द	अर्थ
७०	गति	चलना ।
	यति	विश्राम ।
७१	अप्रतिहत	न रोकी जा सकने वाली, अबाध, अबाधित ।
	पारावार	समुद्र ।
	कीमियागर	रसायन-विद्या को जानने वाला ।
७२	उदान	श्वास ।

पृष्ठ शब्द अर्थ

७३ मांसल—मांस-रक्त से निर्मित शरीर से संबन्ध रखने वाले।

हड़कम्पी—शरीर के पंजर (हड्डियों) को हिला देने वाली।

रुधिर-क्लिन्न—लहू से लथपथ।

सुमित्रानन्दन पन्त

७५ दुःख-विधुरा—दुःख से व्याकुल।

७६ पीन—घनी।

७७ कोदों—एक मोटा अन्न।

संसृति—प्रसार, प्रवाह।

पोत—शिशु।

७८ खर्व—बौना, ठिंगना।

७९ नाँघ—लाँघ कर।

हुलस—प्रसन्न होकर।

महादेवी वर्मा

८१ आलोक-प्रतिमा—प्रकाश-की मूर्ति।

घनसार—कर्पूर।

८२ अभिसार—मिलन।

प्रस्तर—पत्थर।

दामिनी—बिजली।

पृष्ठ शब्द अर्थ

आघात—प्रहार।

जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द

८५ विभोर—आनन्द-मग्न।

८६ अथ—आरंभ, आरंभिक-अवस्था।

८६ स्रोतस्विनी—नदी।

८७ शहनाई—एक बाजा।

८९ दिगंबरा—वस्त्र-हीन, नग्न।

कीर—तोता।

९० राका—पूर्णिमा।

रामधारीसिंह दिनकर

९९ निष्णात—प्रवीन, पूर्ण विद्वान्।

१०२ धूर्जटी—शिव।

विषाण—सींग का बाजा।

हरिवंशराय बच्चन

१०५ अवधान—ध्यान, मन की एकाग्रता।

गह्वर—गुफा, कन्दरा।

१०६ निलय—वास, स्थान, घर।

१०७ संसृति—संसार।

नरेन्द्र शर्मा

११० पद्मनाभ—भगवान् विष्णु।

ऊर्णनाभ—मकड़ी।

सलील—क्रीडाशील।

पृष्ठ शब्द अर्थ

१११ निसर्ग—सृष्टि ।

विटप—शाखा ।

११२ पर्जन्य—बादल ।

रसनिधि—जलकी राशि, समुद्र ।

आधि—मानसिक कष्ट ।

व्याधि—शारीरिक कष्ट ।

क्रीत भृत्य—मोल लिया हुआ दास ।

कीर—तोता ।

हरता—हर्ता, बिगाड़ने वाला, नाश करने वाला ।

करता—कर्त्ता-बनाने वाला, करने वाला ।

विद्याभास्कर अरुण

११६ उन्मुक्त—स्वाधीन, स्वतन्त्र ।

नीड़—घोंसला ।

संबल—यात्रा की सामग्री ।

दृग्-युगम—दोनों नेत्र ।

हेम—स्वर्ण ।

चटुल—चंचल ।

रजत—चाँदी ।

क्षितिज—वह स्थान जहाँ धरती और आकाश मिलते हुए दिखाई देते हैं ।

पृष्ठ शब्द अर्थ

ध्वान—ध्वनि ।

अन्तराल—बीच का स्थान ।

दिक्-चक्रवाल—दिशाओं का घेरा ।

दनुज—राक्षस ।

ध्वंस—विनाश ।

१२१ सिंहनाद—सिंह के समान गर्जना ।

विहान—प्रातः काल ।

१२२ कछार—किनारा ।

दिग्-विदिग्—दिशाएँ और उपदिशाएँ ।

पय-प्रपूर—जल से पूर्ण ।

दह्यमान—जलते हुए ।

तृषा—प्यास ।

तृषित—प्यासी ।

अछल—छल-रहित ।

१२३ सुशुभ्र-शीकरा—स्वच्छ-जल-कणों वाली ।

रसाल—आम का वृक्ष ।

पिकालियाँ—कोकिला-समूह ।

दवाग्नि—वन की आग ।

वाडवालियाँ—समुद्र की अग्नियाँ ।

पृष्ठ शब्द अर्थ

अर्थ-बोध—अर्थ-ज्ञान।

ज्योति-बिन्दु—ज्योति-कण, नक्षत्र।

हास—चमकना।

१२४ सहस्रदीप्ति—सूर्य।

अन्तराय—विघ्न।

विभावरी-वितान—रात्रि का विस्तार।

गवाक्ष-पट—खिड़की का परदा।

मरीचिमाल-किरण-जाल।

नीरज

१२५ नसेनी—सीढ़ी-जीवन का प्रतीक है।

दो बाँस—मन और बुद्धि।

तीन डंडे—बचपन, यौवन और बुढ़ापा।

आँगन—जन्म जहाँ से जीवन-यात्रा का आरम्भ होता है।

छत—मृत्यु-जहाँ जीवन-यात्रा का अन्त होता है।

घुन—दुःख।

१२६ अवरोध—रुकावट, बाधा।

उल्का—पुच्छल तारा।

१२७ रजत—चाँदी, रुपया-पैसा।

१३० सुवास—सुगन्ध।

Finished

